मीडिया मैप

उदार जनतंत्र का सजग प्रहरी

समाज
राजनीति
अर्थव्यवस्था
शिक्षा
युवा
और वैश्विक विमर्श

वर्ष 11 अंक 07 | अगस्त 2026 | मूल्य 50/-



: हम क्यों :



मीडिया मैप एक वैचारिक पत्रिका है। हमारे समाज के नीतिपरक और मूल्यनिष्ठ बिन्दु तथा इनसे जुड़ाव रखने वाले आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मुद्दे इसकी विषयवस्तु है। मीडिया मैप की संपादकीय नीति उदारवादी, आधुनिक, प्रगतिशील व सर्व धर्म समभाव की भावना पर आधारित है।

मीडिया मैप हमारे बहुलतावादी समाज की विविधताओं से सुजित समस्त सोच, विचार, दृष्टिकोण, मूल्य और मान्यताओं को अपने में समाहित करने का एक प्रयास है। हमारा उद्देश्य वैज्ञानिक सोच द्वारा समाज से जुड़े मूल मुद्दों पर एक प्रबुद्ध जनमत विकसित करना है, जिससे देश में संकुचित मानसिकता और आपसी टकराव से ऊपर उठकर एक उत्तरदायी विचार-विमर्श का वातावरण तैयार हो सके।

समावेशी समाज | विचारों का विस्तार | मूल्य-आधारित संवाद | जागरूक नागरिकता | बेहतर भारत के लिए

सब्सक्राइब करें हमारा डिजिटल प्लेटफॉर्म

@mediamapnetwork

मीडिया मैप

उदार जनतंत्र का सजग प्रहरी

संपादकीय सलाहकार मंडल
डॉ. बलदेवराज गुप्त
के. बी. माथुर
डॉ. सलीम खान

प्रधान संपादक
प्रदीप माथुर

संयुक्त संपादक	:	डॉ सतीश मिश्र
तकनीकी संपादक	:	राजीव जी
राजनैतिक संपादक	:	डॉ एम् एच ग़ज़ाली

प्रबंध संपादक	:	चन्द्र कुमार
प्रबंधक	:	जगदीश गौतम
वरिष्ठ उप संपादक	:	प्रशान्त कुमार
कनिष्ठ उप संपादक	:	अंकुर कुमार

विधि परामर्शदाता-संजय माथुर

पंजीकृत एवं संपादकीय कार्यालय 69 - ज्ञानखंड - 4, इन्दिरापुरम, गाजियाबाद 201014 उत्तर प्रदेश

दूरभाष – 0120 - 3248535

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक, एवं संपादक प्रदीप माथुर द्वारा- वर्ल्ड विंडो डिजिटल प्रेस, नवयुग मार्केट, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश 201001 से मुद्रित एवं मीडिया मैप प्रकाशन-69-ज्ञानखंड-4, इन्दिरापुरम, गाजियाबाद 201014 उत्तर प्रदेश से प्रकाशित।

जन संपर्क अधिकारी मो. 9910322682

इस पत्रिका से जुड़े सभी पदाधिकारी, लेखकगण व अन्य सहयोगीगण समाज हित में बगैर किसी पारिश्रमिक या वेतन के स्वैच्छिक सेवा प्रदाता हैं।

इस अंक में प्रकाशित समस्त फीचर व समाचार के लेखकों के अपने स्वतंत्र विचार हैं, जिससे स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं संपादक का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। किसी भी प्रकार के विवाद की स्थिति में क्षेत्रधिकार जिला एवं सत्र न्यायालय गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश होगा।

अनुक्रमणिका

- संपादकीय (2)
- समाचार सरिता (3)
- भारत छोड़ो आंदोलन: 1942 (6)
- अजेयता से गिरावट: मोदी सरकार के अचानक नीचे... (8)
- कॉकरोच जनता पार्टी: स्थानीय असंतोष से राष्ट्री... (10)
- क्या भारत के युवा सचमुच संस्कारहीन हो रहे हैं? (16)
- शिक्षा किस दिशा में? नीति, राजनीति और ... (19)
- भारत की आर्थिक पुनर्बहाली का नया चेहरा (22)
- राजीव गांधी जयंती - अगस्त 20 (25)
- खाडी में अमेरिका की ढाल छलनी: ईरान ने... (29)
- नेतन्याहू और पत्रकारिता का मृत्युलेख (30)
- उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की जयंती पर आभासी... (33)
- स्वतंत्रता का अर्थ: तिरंगे से आगे एक जिम्मेदार... (35)
- इथेनॉलः मुझे नहीं मालूम, इसलिए चुप हू (36)

RNI No: UPHIN/2016/68336 Website: www.mediamap.co.in Email: editor@mediamap.co.in

संपादकीय

स्वतंत्रता दिवस: उत्सव से आगे, एकता की चुनौती



प्रो प्रदीप माथुर

स्वतंत्रता दिवस हमारे लिए केवल उत्सव का दिन नहीं, बल्कि आत्ममंथन का अवसर भी है। यह वह दिन है जब हम उन महान स्वतंत्रता सेनानियों को याद करते हैं जिन्होंने औपनिवेशिक शासन की बेड़ियों से देश को मुक्त कराने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। साथ ही, हम एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में बीते दशकों की उपलब्धियों पर गर्व करते हैं। इस दिन सामान्यतः हमारे आपसी मतभेद और छोटे-बड़े विवाद पीछे छूट जाते हैं और विविधताओं से भरा भारत एक राष्ट्र के रूप में अपनी एकता का उत्सव मनाता है।

दुर्भाग्य से आज यह तस्वीर उतनी सहज नहीं है। वैचारिक टकराव, संकीर्ण सामाजिक दृष्टिकोण और बढ़ता सामाजिक असंतुलन राष्ट्रीय पर्व की भावना पर भी अपनी छाया डाल रहे हैं। प्रश्न यह है कि इस स्थिति के लिए जिम्मेदार कौन है?

जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति और क्षेत्रीय विषमताओं वाले देश में मतभेद स्वाभाविक हैं। लेकिन सुशासन की कसौटी यह है कि नेतृत्व इन विभिन्न विचारों और हितों को साथ लेकर चले तथा व्यापक सहमति बनाने का प्रयास करे। पिछले एक दशक में शासन की कार्यशैली में यह व्यापकता कम हुई है और बहुसंख्यकवादी तथा एकांगी दृष्टिकोण का प्रभाव बढ़ा है। विरोधी विचारों को साथ लेकर चलने के बजाय कई बार उन्हें उपहास, दबाव अथवा असहमति के दमन के रूप में देखा गया है।

स्वाधीनता आंदोलन के प्रमुख नेताओं पर गांधी की अहिंसा, सह-अस्तित्व और संवाद की विचारधारा का गहरा प्रभाव था। स्वतंत्रता के बाद भी विभिन्न राजनीतिक मतों के बीच तीखे मतभेदों के बावजूद लोकतांत्रिक संवाद और उदार दृष्टिकोण ने टकराव को चरम पर पहुंचने से रोका। यही लोकतांत्रिक सहमति भारत की ताकत रही है।

आज छात्रों और युवाओं के बीच दिखाई दे रहा असंतोष केवल परीक्षाओं, रोजगार या अवसरों से जुड़ी शिकायतों तक सीमित नहीं माना जा सकता। इसे व्यापक आर्थिक असमानता, रोजगार की चिंता और सामाजिक असुरक्षा से उपजी निराशा की अभिव्यक्ति के रूप में भी देखा जा रहा है। हाल के युवा आंदोलनों ने शासन की नीतियों और प्राथमिकताओं पर गंभीर सवाल उठाए हैं।

सबसे चिंताजनक बात यह है कि यदि सत्ता और समाज के बीच संवाद कमजोर हो जाए तो नेतृत्व तक वास्तविक जनभावनाएँ पहुंचना कठिन हो जाता है। सत्ता के आसपास केवल प्रशंसकों और समर्थकों का घेरा हो तो असहमति की आवाजें सुनाई नहीं देतीं। लोकतंत्र में यह स्थिति किसी भी सरकार के लिए आत्ममंथन का विषय होनी चाहिए।

आशा है कि स्वतंत्रता दिवस केवल उपलब्धियों के दावों का अवसर न बने, बल्कि आत्मनिरीक्षण का भी दिन हो। देश को आगे ले जाने के लिए पक्षपातपूर्ण सोच, संकीर्ण दृष्टिकोण और असहमति के प्रति असहिष्णुता से ऊपर उठना होगा। भारत की शक्ति उसकी विविधता में है और उसकी प्रगति का रास्ता सहमति, संवाद और लोकतांत्रिक सहभागिता से होकर जाता है। यही दृष्टिकोण भारत को विश्व समुदाय में उसका उचित स्थान दिला सकता है।

भारत-नेपाल संबंध और कैलाश मानसरोवर यात्रा

नेपाल के युवा प्रधानमंत्री बालेंद्र शाह अपने देश की नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं—आत्मविश्वासी, मुखर और व्यावहारिक। नेपाल की राष्ट्रीय अस्मिता के प्रति उनका आग्रह स्पष्ट है, लेकिन उनकी राजनीति को केवल धार्मिक पहचान के चश्मे से देखना उचित नहीं होगा। भारत-नेपाल संबंधों को भी न तो केवल इस आधार पर देखना चाहिए कि नेपाल एक हिंदू-बहुल देश है और न ही 'बड़े भाई' के दृष्टिकोण से। दोनों देशों के संबंधों में समानता, सम्मान और व्यावहारिकता का महत्व अधिक है।

इसी संदर्भ में कैलाश मानसरोवर यात्रा और लिपुलेख विवाद को समझना होगा।

भारत और नेपाल के बीच लिपुलेख दर्रे को लेकर पुराना सीमा विवाद एक बार फिर सामने आया है। मई 2026 में नेपाल के विदेश मंत्रालय ने भारत और चीन द्वारा कैलाश मानसरोवर यात्रा के लिए लिपुलेख मार्ग के इस्तेमाल पर औपचारिक आपत्ति जताई। नेपाल का कहना है कि लिपुलेख, लिम्पियाधुरा और कालापानी उसके भू-भाग का हिस्सा हैं और वहां सड़क, व्यापार या तीर्थयात्रा जैसी गतिविधियां उसकी सहमति के बिना नहीं होनी चाहिए। नेपाल ने भारत और चीन दोनों को अपनी स्थिति से अवगत कराया है। *(Ministry of Foreign Affairs)*

भारत का कहना है कि लिपुलेख से कैलाश मानसरोवर यात्रा कोई नई व्यवस्था नहीं है। विदेश मंत्रालय के अनुसार, यह मार्ग लंबे समय से इस्तेमाल होता रहा है और भारत का क्षेत्रीय दावा ऐतिहासिक तथ्यों और प्रमाणों पर आधारित है। भारत ने साथ ही नेपाल के साथ लंबित सीमा मुद्दों को संवाद और कूटनीति के माध्यम से सुलझाने की अपनी तत्परता दोहराई है। *(PublicNow)*

विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 1816 की सुगौली संधि से जुड़ी है। नेपाल का तर्क है कि महाकाली नदी के उद्गम की उसकी व्याख्या के आधार पर लिम्पियाधुरा, कालापानी और लिपुलेख उसके क्षेत्र में आते हैं। भारत इस दावे को स्वीकार नहीं करता। यही सीमा-व्याख्या दोनों देशों के बीच विवाद का मूल आधार है।

विवाद मई 2020 में और तीखा हुआ, जब भारत ने धारचूला से लिपुलेख तक सड़क का उद्घाटन किया। इसके बाद नेपाल ने नया राजनीतिक नक्शा जारी किया, जिसमें लिम्पियाधुरा, कालापानी और लिपुलेख को अपने क्षेत्र में दिखाया।

इस मामले में चीन भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है। भारत और चीन के बीच लिपुलेख से व्यापार और तीर्थयात्रा के संबंध में पहले भी समझौते और व्यवस्थाएं हुई हैं। नेपाल ने इन पर आपत्ति जताई है। *(Ministry of External Affairs)*

2026 में कैलाश मानसरोवर यात्रा को लेकर उठा विवाद इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह केवल एक तीर्थयात्रा का प्रश्न नहीं, बल्कि सीमा, संप्रभुता और तीनों देशों के संबंधों से जुड़ा मुद्दा है। नेपाल बातचीत और कूटनीति के माध्यम से समाधान पर जोर दे रहा है, जबकि भारत भी संवाद के लिए तैयार होने की बात कह चुका है। भारत-नेपाल संबंधों की गहराई को देखते हुए, ऐसे विवादों को भावनात्मक या शक्ति-प्रदर्शन के बजाय तथ्यों, ऐतिहासिक प्रमाणों, पारस्परिक सम्मान और कूटनीतिक संवाद के आधार पर देखना दोनों देशों के दीर्घकालिक हित में है।

हजारों करोड़ का दान और बढ़ते सवाल

श्री राम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट के अनुसार, समर्पण निधि अभियान सहित विभिन्न जन-अभियानों से लगभग 5,500-6,000 करोड़ रुपये प्राप्त हुए हैं। है। मंदिर में प्रतिदिन औसतन 70-80 हजार श्रद्धालु पहुंचते हैं। वर्ष 2024-25 में दान पेटियों से 327 करोड़ रुपये, सावधि जमा से 173 करोड़ और प्रत्यक्ष व ऑनलाइन दान से लगभग 153 करोड़ रुपये प्राप्त होने की बात कही गई है। राम मंदिर से जुड़े पुराने चंदे को लेकर भी समय-समय पर सवाल उठते रहे हैं। यह विवाद केवल राम मंदिर तक सीमित नहीं है। भारत की धार्मिक अर्थव्यवस्था विशाल है। विभिन्न अध्ययनों के अनुसार धार्मिक उद्देश्यों के लिए घरेलू दान सालाना 16,600-23,700 करोड़ रुपये के बीच है और धार्मिक संस्थाओं के पास लाखों करोड़ रुपये की परिसंपत्तियां हैं। सीएसआईपी के अनुसार घरेलू परोपकारी दान का बड़ा हिस्सा धार्मिक संस्थाओं को मिलता है।

इस पृष्ठभूमि में मुद्दा केवल दान की राशि का नहीं, बल्कि आस्था के साथ जवाबदेही और पारदर्शिता का भी है। नियमित लेखा-परीक्षण, स्पष्ट वित्तीय रिपोर्ट और दान के उपयोग की सार्वजनिक जानकारी से श्रद्धालुओं का विश्वास मजबूत हो सकता है।

आर्थिक विकास का सच

आज, जब इतिहास की व्याख्या को लेकर तीखी राजनीतिक बहस चल रही है, तब भारत के आर्थिक विकास को नारों के बजाय आंकड़ों और संस्थागत निर्माण के आईने में देखना जरूरी है।

स्वतंत्रता के समय भारत के पास सीमित संसाधन और कमजोर औद्योगिक आधार था। इसके बावजूद स्वतंत्र भारत के शुरुआती दशकों में बड़े बांध, रेल नेटवर्क, उच्च शिक्षा और वैज्ञानिक संस्थानों का व्यापक विस्तार हुआ। पंडित जवाहरलाल नेहरू के दौर में IIT खड़गपुर, AIIMS दिल्ली और IIM अहमदाबाद जैसे संस्थान स्थापित हुए। भाखड़ा-नांगल जैसे बहुउद्देशीय बांधों को आधुनिक भारत के निर्माण की आधारशिला माना गया।

इंदिरा गांधी के कार्यकाल में 1969 में 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुआ, जिसने बैंकिंग संसाधनों को ग्रामीण अर्थव्यवस्था और आम जनता तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजीव गांधी ने C-DOT की स्थापना के माध्यम से भारत में दूरसंचार और सूचना-प्रौद्योगिकी के विस्तार की नींव मजबूत की।

1991 के गंभीर आर्थिक संकट में पी. वी. नरसिम्हा राव और वित्त मंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू की। इसके बाद 2004-2014 के दौरान उच्च आर्थिक वृद्धि के साथ MGNREGA, RTI और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून जैसे महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम लागू हुए।

आज बहस इस बात पर है कि क्या सार्वजनिक संस्थानों और राष्ट्रीय परिसंपत्तियों को मजबूत किया जा रहा है या उनका निजीकरण बढ़ रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के NPA, अनुसंधान एवं विकास पर कम

खर्च, शिक्षा के लिए संसाधनों और रणनीतिक परिसंपत्तियों के विनिवेश जैसे मुद्दे इसी बहस का हिस्सा हैं।

भारत की विकास यात्रा किसी एक सरकार या दौर की देन नहीं है। यह दशकों के संस्थागत निर्माण, वैज्ञानिक सोच, सार्वजनिक निवेश और नीतिगत प्रयोगों का परिणाम है। इसलिए विकास का मूल्यांकन राजनीतिक नारों से नहीं, बल्कि रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, उत्पादकता, संस्थागत क्षमता और नागरिकों के जीवन स्तर में हुए वास्तविक बदलावों से होना चाहिए।

जीवन-सार

बदलते सामाजिक वातावरण में जीवन

जगदीश गौतम

आज का जीवन सुविधाओं से समृद्ध है, लेकिन संतोष से कहीं अधिक संघर्षों से घिरा दिखाई देता है। तकनीक ने दुनिया को हमारी हथेली में ला दिया है, मगर मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी कई बार बढ़ती जा रही है। संवाद के साधन बढ़े हैं, पर दिल की बात सुनने का समय कम हुआ है।

आज समाज में सफलता को अक्सर धन, पद, प्रतिष्ठा और दिखावे के पैमाने से मापा जाता है। व्यक्ति दूसरों से आगे निकलने की दौड़ में स्वयं से ही दूर होता जा रहा है। सोशल मीडिया ने हमें एक-दूसरे से जोड़ने का अवसर दिया, लेकिन उसी के साथ तुलना, दिखावा, असहमति और आभासी जीवन का दबाव भी बढ़ा है। हम दूसरों के जीवन की चमक देखते हैं, पर उनके संघर्षों को नहीं देख पाते।

परिवार, जो कभी भावनात्मक सुरक्षा का सबसे बड़ा आधार था, आज बदलती जीवनशैली और व्यस्तता के कारण नई चुनौतियों का सामना कर रहा है। बुजुर्गों के अनुभव और बच्चों की मासूमियत के बीच संवाद की कमी दिखाई देती है। रिश्ते बने हुए हैं, लेकिन कई बार उनमें समय, विश्वास और संवेदना की कमी महसूस होती है।

शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार प्राप्त करना नहीं, बल्कि एक जिम्मेदार और संवेदनशील मनुष्य बनना भी है। आज आवश्यकता है कि शिक्षा के साथ संस्कार, विवेक, सहिष्णुता और सामाजिक जिम्मेदारी को भी महत्व दिया जाए। युवा केवल अपने भविष्य के निर्माता नहीं हैं, वे समाज के भविष्य के भी निर्माता हैं।

आज के सामाजिक वातावरण में सबसे बड़ी आवश्यकता शायद संवेदनशीलता और संवाद की है। विचार अलग हो सकते हैं, लेकिन मनुष्य के प्रति सम्मान कम नहीं होना चाहिए। असहमति दुश्मनी न बने और सफलता संवेदनहीनता का कारण न बने—यही स्वस्थ समाज की पहचान हो सकती है।

जीवन का सार अंततः यही है कि हम कितना कमाए या कितनी प्रसिद्धि प्राप्त की, इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि हमारे कारण कितने लोगों के जीवन में आशा, सम्मान और विश्वास पैदा हुआ। समय बदलता रहेगा, तकनीक बदलती रहेगी और सामाजिक परिस्थितियाँ भी बदलती रहेंगी; लेकिन मानवता, प्रेम, सत्य और संवेदना का महत्व कभी समाप्त नहीं होगा।

भारत छोड़ो आंदोलन: वह जिसने स्वतंत्रता संग्राम की दिशा बदल दी

जगदीश गौतम

9 अगस्त 1942 भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास की उन महत्वपूर्ण तारीखों में शामिल है, जब अंग्रेजी शासन के विरुद्ध देशव्यापी प्रतिरोध ने नया स्वरूप लिया। इससे एक दिन पहले, 8 अगस्त को बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित किया और महात्मा गांधी ने देशवासियों से स्पष्ट आह्वान किया- "करो या मरो।"

यह आंदोलन केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं था। यह उस दौर की व्यापक जनभावना की अभिव्यक्ति था, जिसमें भारतीय जनता ब्रिटिश शासन से तत्काल स्वतंत्रता चाहती थी।

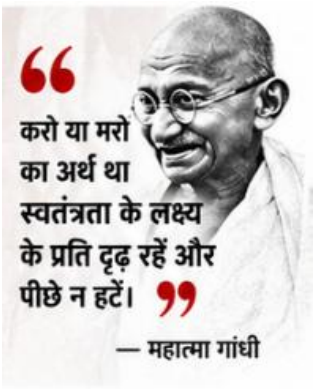

8 अगस्त: निर्णायक आह्वान

8 अगस्त 1942 को बंबई के ग्वालिया टैंक मैदान में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक हुई। यहां भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित किया गया। महात्मा गांधी ने अपने भाषण में स्वतंत्रता के लिए निर्णायक संघर्ष का संदेश देते हुए कहा - "करो या मरो।"

9 अगस्त की गिरफ्तारियां

भारत छोड़ो प्रस्ताव के तुरंत बाद ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्व के खिलाफ कार्रवाई की। 9 अगस्त 1942 को महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और अन्य प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया।

ब्रिटिश सरकार की कार्रवाई का उद्देश्य आंदोलन को नेतृत्वविहीन करके उसे रोकना था। लेकिन इसका परिणाम उलटा पड़ा। देश के अनेक हिस्सों में स्थानीय स्तर पर आंदोलन और विरोध जारी रहा।

नेतृत्व के बिना भी जनता सड़कों पर

आंदोलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही कि शीर्ष नेताओं की गिरफ्तारी के बाद भी जनता के विभिन्न वर्गों ने विरोध जारी रखा। विद्यार्थियों, युवाओं, किसानों, श्रमिकों और महिलाओं ने अलग-अलग क्षेत्रों में आंदोलन में भाग लिया। कई स्थानों पर हड़तालें हुईं और सरकारी संस्थानों तथा संचार व्यवस्था के विरुद्ध विरोध देखने को मिला। कुछ क्षेत्रों में भूमिगत गतिविधियां भी संचालित हुईं।

अरुणा आसफ अली ने 9 अगस्त को ग्वालिया टैंक मैदान में तिरंगा फहराया। उनका नाम आंदोलन के प्रमुख प्रतीकों में शामिल हो गया। भूमिगत गतिविधियों में जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया और अच्युत पटवर्धन जैसे समाजवादी नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उषा मेहता और उनके सहयोगियों द्वारा संचालित कांग्रेस रेडियो ने भी भूमिगत आंदोलन के संदेशों को जनता तक पहुंचाने का प्रयास किया।

महिलाओं की सक्रिय भागीदारी

भारत छोड़ो आंदोलन में महिलाओं की भूमिका

विशेष रूप से उल्लेखनीय रही। अरुणा आसफ अली, उषा मेहता और सुचेता कृपलानी सहित अनेक महिलाओं ने प्रत्यक्ष या भूमिगत गतिविधियों में भाग लिया। इससे यह स्पष्ट हुआ कि स्वतंत्रता आंदोलन अब केवल राजनीतिक नेताओं तक सीमित नहीं था। समाज के विभिन्न वर्ग अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार इसमें भाग ले रहे थे।

ब्रिटिश दमन

ब्रिटिश सरकार ने आंदोलन को रोकने के लिए बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां कीं और पुलिस तथा प्रशासनिक बल का इस्तेमाल किया। अनेक प्रदर्शनकारियों को जेल भेजा गया। कई स्थानों पर गोलीबारी और कठोर दमन की घटनाएँ भी हुईं। आंदोलन को दबाने के बावजूद ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता में बढ़ रही स्वतंत्रता की आकांक्षा को समाप्त नहीं कर सकी।

युद्ध के बीच बढ़ता असंतोष

1942 में दुनिया द्वितीय विश्वयुद्ध की भयावह परिस्थितियों से गुजर रही थी। ब्रिटिश सरकार ने भारत को भारतीय नेताओं और जनता की सहमति के बिना युद्ध में शामिल कर दिया था। इससे भारतीय राजनीतिक नेतृत्व में असंतोष बढ़ा।

इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं से बातचीत के लिए क्रिप्स मिशन भेजा। मिशन के प्रस्तावों में युद्ध के बाद संवैधानिक परिवर्तन की बात थी, लेकिन तत्काल सत्ता हस्तांतरण की मांग पूरी नहीं हुई। कांग्रेस और अन्य राजनीतिक शक्तियों के साथ सहमति नहीं बन सकी। महात्मा गांधी और कांग्रेस नेतृत्व का मत था कि भारत को अब स्वतंत्र किया जाना चाहिए और भारतीय जनता को अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करने का अधिकार मिलना चाहिए।गांधीजी का यह आह्वान हिंसा का संदेश नहीं था। इसका उद्देश्य लोगों को स्वतंत्रता के लक्ष्य के प्रति दृढ़ रहने और अहिंसक संघर्ष में पीछे न हटने के लिए प्रेरित करना था।

क्या 1942 में स्वतंत्रता मिल गई थी?

भारत छोड़ो आंदोलन का तत्काल परिणाम स्वतंत्रता के रूप में सामने नहीं आया। ब्रिटिश सरकार ने 1942-44 के दौरान आंदोलन को काफी हद तक दबा दिया और कांग्रेस के प्रमुख नेता लंबे समय तक जेल में रहे। फिर भी 1942 का आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। इसने ब्रिटिश शासन को यह संकेत दिया कि भारत में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जन असंतोष गहरा और व्यापक हो चुका है। इसके बाद के वर्षों में आजाद हिंद फौज, 1946 का नौसैनिक विद्रोह, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन की आर्थिक परिस्थितियां और भारत में बदलता राजनीतिक वातावरण जैसे कई कारक स्वतंत्रता की प्रक्रिया को प्रभावित करते रहे।

इतिहास का संदेश

भारत छोड़ो आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता उसका व्यापक जनचरित्र था। इसमें बड़े राजनीतिक नेताओं के साथ-साथ सामान्य नागरिकों ने भी अपनी भूमिका निभाई। 1942 का संदेश केवल "अंग्रेजों भारत छोड़ो" तक सीमित नहीं था। यह उस मूल भावना की अभिव्यक्ति था कि किसी देश का भविष्य उस देश की जनता की इच्छा से तय होना चाहिए। भारत छोड़ो आंदोलन स्वतंत्रता संग्राम का अंतिम बड़ा जनआंदोलन था, जिसने भारतीय स्वतंत्रता की मांग को निर्णायक राजनीतिक स्वर दिया। "करो या मरो" का आह्वान उस दौर की राजनीतिक परिस्थितियों में साहस, दृढ़ता और स्वतंत्रता की आकांक्षा का प्रतीक बन गया। 1942 हमें याद दिलाता है कि इतिहास केवल बड़े नेताओं के निर्णयों से नहीं बनता। इतिहास उन लाखों सामान्य लोगों की भागीदारी से भी बनता है, जो किसी बड़े परिवर्तन के लिए अपनी आवाज उठाते हैं।

मोदी सरकार: यकायक जन समर्थन गिरने का कारण

प्रदीप माथुर

1960 के दशक में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रहे हेरोल्ड विल्सन ने एक बार कहा था कि राजनीति में एक हफ़्ता भी बहुत लंबा समय होता है। बीजेपी सरकार के लिए लोगों का समर्थन अचानक कम होना और प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का घटता प्रभाव दिखाता है कि ब्रिटिश नेता की बात कितनी सही थी।

यह यकीन करना मुश्किल है कि बीजेपी, जिसने 100 दिन से भी कम समय पहले विधानसभा चुनावों में ज़बरदस्त जीत हासिल की थी, अब बचाव की मुद्रा में है। उसके कभी जोश से भरे नेता संसद और सार्वजनिक मंचों पर विपक्ष का सामना करने से कतराते दिख रहे हैं।

मोदी और पार्टी के लिए सब कुछ ठीक चल रहा था। बीजेपी अगले साल की शुरुआत में होने वाले पांच राज्यों के विधानसभा चुनावों की ओर पूरे आत्मविश्वास के साथ देख रही थी, जिसमें उत्तर प्रदेश सबसे अहम था। यहाँ तक कि यह भी कहा जा रहा था कि इन चुनावों में जीत 2029 के लोकसभा चुनावों में मोदी की सत्ता में वापसी का रास्ता साफ़ करेगी। फिर, अचानक राजनीतिक माहौल पूरी तरह बदल गया, और अब मोदी के मौजूदा कार्यकाल के अंत तक पद

पर बने रहने की क्षमता पर सवाल उठाए जा रहे हैं।

राजनीतिक हालात में इतना बड़ा बदलाव अचानक कैसे आया, यह वाकई हैरानी की बात है। यह यकीन करना मुश्किल है कि दो महीने पुरानी 'कॉकरोच जनता पार्टी' (CJP) - जो छात्रों और बेरोज़गार युवाओं का समूह है और जिसका नेतृत्व बहुत कम जाना-पहचाना है - उस सरकार की नींव को इतनी बुरी तरह हिला सकती है, जिसने एक दशक से ज़्यादा समय तक देश में बिना किसी चुनौती के शासन किया हो।

हालाँकि, जो बात समझी नहीं जा रही है, वह यह है कि CJP और उसके नेतृत्व ने केवल दबी हुई नाराज़गी को एक बड़े विरोध आंदोलन के रूप में बाहर आने का ज़रिया दिया। समाज के कई वर्गों में मोदी सरकार के मनमाने तरीकों को लेकर बढ़ती निराशा के साफ़ संकेत मिल रहे थे। एकमात्र समस्या यह थी कि इस नाराज़गी को ज़ाहिर करने का कोई असरदार तरीका नहीं मिल पा रहा था।

यह तर्क दिया जा सकता है कि संकीर्ण सोच और अहंकार के कारण, बहुत ज़्यादा आत्मविश्वास से भरी बीजेपी लीडरशिप या तो इस दबी हुई नाराज़गी को देख नहीं पाई या फिर इसे मामूली समझकर नज़रअंदाज़ कर दिया। नतीजा यह है कि BJP आज एक संकट में फंसी हुई है।

राजनीतिक विश्लेषकों के लिए बड़ा सवाल यह है कि BJP के समर्थन में अचानक और इतनी बड़ी गिरावट क्यों आई? अगर सत्ताधारी पार्टी के लिए हालात इतनी तेज़ी से बिगड़ रहे थे, तो इतनी बड़ी गिरावट के कोई साफ़ संकेत क्यों नहीं दिखे?

मोदी सरकार के घटते समर्थन के पीछे कई कारण हैं। इनमें महंगाई, बढ़ती बेरोज़गारी, असहमति को दबाना और राहुल गांधी के नेतृत्व में विपक्ष का आक्रामक प्रचार शामिल हैं। पेपर लीक होने के बाद NEET परीक्षा रद्द होने से निश्चित रूप से एक तत्काल झटका लगा। ये सभी कारण महत्वपूर्ण हैं, लेकिन जिस बात पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया, वह है मास कम्युनिकेशन (जन-संचार) की भूमिका।

मास कम्युनिकेशन और प्रिंट, ऑडियो-विजुअल और डिजिटल मीडिया के ज़रिए अपनाई गई रणनीतियाँ किसी जन-नेता की छवि बनाने या बिगाड़ने में अहम भूमिका निभाती हैं। मोदी और उनके चर्चित IT सेल ने नेहरू-गांधी परिवार, और खासकर राहुल गांधी की छवि को खराब करने के लिए बहुत कुछ किया। वे इसमें काफी हद तक सफल भी रहे। हालाँकि, वे मास कम्युनिकेशन के कुछ बुनियादी सिद्धांतों को समझने में नाकाम रहे, और यही अब उनके लिए नुकसानदेह साबित हो रहा है।

कम्युनिकेशन का एक सीधा सा नियम है कि लंबे समय तक और लगातार आलोचना करने से उस व्यक्ति के प्रति सहानुभूति पैदा हो सकती है जिसकी आलोचना की जा रही है। लोग धीरे-धीरे उस व्यक्ति को एक ऐसे पीड़ित के रूप में देखने लग सकते हैं जिसे ताकतवर लोग गलत तरीके से निशाना बना रहे हैं। इसी तरह, बहुत ज़्यादा और लगातार तारीफ़ करने का भी उल्टा असर हो सकता है। आलोचना और तारीफ़ तभी सबसे असरदार होती हैं जब वे संतुलित हों। यह कहना गलत नहीं होगा कि नेहरू-गांधी परिवार के कुछ अन्य सदस्यों के विपरीत, राहुल गांधी शुरू में अपने अंदाज़ और लहज़े के कारण राजनीतिक कार्यकर्ताओं और आम जनता के साथ जुड़ाव नहीं बना पाए। इसीलिए BJP की मीडिया मशीनरी द्वारा उन्हें "पप्पू" कहे जाने की बात शुरू में काफी प्रचलित हो गई। कांग्रेस के पुराने और जमे-जमाए नेतृत्व — जिसे 'ग्रुप ऑफ़ 23' के नाम से जाना जाता है — की उदासीनता के कारण भी राहुल गांधी काफी समय तक देश के राजनीतिक परिदृश्य में कोई खास प्रभाव नहीं डाल पाए। हालाँकि, बीजेपी की उन्हें कमज़ोर करने और हाशिए पर धकेलने की आक्रामक मुहिम और साथ ही राहुल गांधी के डटे रहने के जज़्बे ने धीरे-धीरे बीजेपी लीडरशिप के लिए ही हालात बदल दिए हैं। अगर बीजेपी के रणनीतिकारों और इमेज बनाने वालों ने 2014 के चुनावों में कांग्रेस की शर्मनाक हार के बाद राहुल गांधी को उसी हाल में छोड़ दिया होता, तो शायद आज उन्हें सत्ता के केंद्र में राहुल गांधी से इतनी बड़ी चुनौती का सामना नहीं करना पड़ता।

इसी तरह, मोदी और उनकी इमेज बनाने वालों ने अपनी बहुत ज़्यादा तारीफ़ करने और अपनी उपलब्धियों व भविष्य की योजनाओं के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर दावे करने की एक और बड़ी गलती की। अब, जब इन दावों की सच्चाई पर हर तरफ़ से सवाल उठाए जा रहे हैं, तो उन्हें इनके पक्ष में ठोस और भरोसेमंद जवाब देने में मुश्किल हो रही है। जवाब। इसलिए मोदी और उनकी सरकार के पॉपुलर सपोर्ट में भारी गिरावट से किसी को हैरानी नहीं होनी चाहिए।

कॉकरोच जनता पार्टी और उसके नौजवानों के बड़े आंदोलन ने मोदी की इमेज को खराब किया है। आंदोलन को जिस तरह से ठीक से हैंडल नहीं किया गया और नौजवान लड़के-लड़कियों पर जिस तरह से दबाव डाला गया, उससे सरकार के लिए हालात और भी खराब हो गए हैं।

मोदी सरकार के लिए बेहतर स्ट्रैटेजी यह होती कि वह जंतर-मंतर पर हुए पुलिसिया हमलों के लिए माफी माँगती, CJP नेताओं को बातचीत के लिए बुलाती, उनकी शिकायतें सुनती और स्टूडेंट्स के खिलाफ केस वापस लेने जैसी कुछ सही माँगों पर सहमत होती। लेकिन सत्ता के नशे में चूर और घमंडी पॉलिटिकल इकोसिस्टम ने उल्टा रास्ता चुना है। युवा स्टूडेंट्स को क्रिमिनल बना दिया है और बेहतर एजुकेशन सिस्टम की उनकी असली माँगों को खारिज कर दिया है।

टकराव को न्योता देने के बाद, सत्ताधारी सरकार को अब इसके लिए तैयार रहना चाहिए। अहम सवाल यह है कि क्या प्रधानमंत्री के स्वतंत्रता दिवस के वादे उनकी सदी में सही हथियार साबित होंगे या वे सरकार और लोगों के बीच बढ़ते अंतर को और उजागर करेंगे।

कॉकरोच जनता पार्टी: असंतोष से राष्ट्रीय आंदोलन तक

प्रो. प्रदीप माथुर

इतिहास बताता है कि बड़े जनांदोलनों की शुरुआत हमेशा बड़े राजनीतिक संगठनों से नहीं होती। कई बार कोई छोटा-सा प्रसंग, कोई अपमानजनक टिप्पणी या किसी वर्ग की लंबे समय से दबाई गई पीड़ा अचानक व्यापक जनभावना का प्रतीक बन जाती है। भारत में 2026 में उभरी कॉकरोच जनता पार्टी (CJP) की कहानी इसी संदर्भ में देखी जा सकती है।

मई 2026 में बेरोजगार युवाओं के संदर्भ में सुप्रीम कोर्ट के एक न्यायाधीश की 'कॉकरोच' संबंधी टिप्पणी पर युवा मीडिया पेशेवर अभिजीत दीपके ने सोशल मीडिया पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी की—"What if all cockroaches come together?" देखते ही देखते यह मजाक एक डिजिटल अभियान में बदल गया और 'कॉकरोच जनता पार्टी' नाम सामने आया। दीपके, जो अमेरिका में पढ़ाई कर रहे थे और पहले आम आदमी पार्टी के सोशल मीडिया से जुड़े रहे थे, भारत लौटे और आंदोलन को सड़क तक ले आए।

लेकिन CJP को केवल सोशल मीडिया की सनसनी समझना भूल होगी। इसकी वास्तविक ताकत उस समय सामने आई जब उसने छात्रों और प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रहे युवाओं की सबसे बड़ी चिंता—शिक्षा और रोजगार के भविष्य की अनिश्चितता—को अपना मुद्दा बनाया।

NEET-UG 2026 से जुड़े पेपर लीक और परीक्षा-व्यवस्था पर उठे सवालों ने देशभर में व्यापक असंतोष पैदा किया। लगभग 20 लाख विद्यार्थियों से जुड़ी इस परीक्षा को लेकर विवाद के बाद पुनर्परीक्षा करानी पड़ी। CJP ने केंद्रीय शिक्षा मंत्री धर्मेंद्र प्रधान के इस्तीफे की मांग को आंदोलन का मुख्य मुद्दा बना दिया। जून और जुलाई में दिल्ली के जंतर-मंतर सहित कई स्थानों पर प्रदर्शन हुए और आंदोलन को विद्यार्थियों, अभिभावकों तथा कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं का समर्थन मिला।

आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम 25 जुलाई को सामने आया, जब धर्मेंद्र प्रधान ने शिक्षा मंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया। सरकार ने बाद में परीक्षा व्यवस्था में सुधार और पेपर लीक से निपटने के लिए कानूनी एवं प्रशासनिक कदमों की घोषणा की। CJP ने इसे अपनी प्रमुख मांग की पूर्ति मानते हुए जंतर-मंतर का आंदोलन समाप्त किया।

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्यात्मक सावधानी भी जरूरी है। किसी मंत्री का इस्तीफा केवल किसी एक संगठन के दबाव का परिणाम था, ऐसा निष्कर्ष निकालना कठिन है। लेकिन यह तथ्य दर्ज है कि प्रधान का इस्तीफा CJP आंदोलन की प्रमुख मांग थी और इस्तीफे के बाद संगठन ने अपना आंदोलन वापस लिया। यही अपने आप में इस युवा आंदोलन के प्रभाव को समझने के लिए पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

CJP की अगली गतिविधियों ने संकेत दिया कि आंदोलन केवल NEET तक सीमित नहीं रहना चाहता। संगठन ने सरकारी स्कूलों की स्थिति को

लेकर 'School Thik Karo' अभियान शुरू किया। महाराष्ट्र के हिंगोली में एक सरकारी स्कूल का बुनियादी ढांचा ऑडिट किया गया, जबकि राजस्थान के जयपुर क्षेत्र में एक जर्जर सरकारी स्कूल को लेकर CJP के विरोध के बाद लगभग 18 लाख रुपये की लागत से नया भवन बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई।

प्रतियोगी परीक्षाओं, लोक सेवा आयोगों की परीक्षाओं, भर्ती में देरी और गिग वर्करों की समस्याओं को भी CJP के अगले अभियानों में शामिल किया गया। इससे स्पष्ट होता है कि संगठन उस व्यापक युवा असंतोष को संबोधित करना चाहता है जिसका संबंध केवल परीक्षा से

नहीं, बल्कि रोजगार और सामाजिक-आर्थिक अवसरों से है।

CJP के गठन के बाद से ही इसके पीछे किसी राजनीतिक शक्ति के होने के सवाल उठते रहे हैं। अभिजीत दीपके का पूर्व में AAP से जुड़ाव इस चर्चा का एक आधार बना। स्वयं दीपके ने CJP को चुनावी राजनीति से अलग रखने की बात कही है और इसे एक जन-दबाव समूह के रूप में प्रस्तुत किया है। दूसरी ओर, AAP नेताओं की CJP के कार्यक्रमों में सक्रिय उपस्थिति ने दोनों के संबंधों को लेकर राजनीतिक चर्चाओं को जन्म दिया है।

इसलिए CJP को किसी दल की 'बी-टीम' घोषित करना अभी तथ्य के बजाय राजनीतिक व्याख्या होगी। इसी तरह इसे पूरी तरह गैर-राजनीतिक मान लेना भी आसान नहीं है। आखिरकार, शिक्षा, रोजगार, प्रशासनिक जवाबदेही और चुनावी संस्थाओं जैसे मुद्दे स्वभावतः राजनीतिक महत्व रखते हैं।

दिलचस्प बात यह है कि अगस्त तक CJP का रुख और अधिक व्यापक हो गया।। यह उसके मूल शिक्षा-केंद्रित आंदोलन से आगे बढ़कर लोकतांत्रिक संस्थाओं और मतदाता अधिकारों के प्रश्नों तक पहुंचने का संकेत है।

CJP की तुलना आम आदमी पार्टी के शुरुआती दौर से होना स्वाभाविक है। AAP भी एक व्यापक भ्रष्टाचार-विरोधी जनांदोलन की पृष्ठभूमि से निकली थी और बाद में चुनावी राजनीति में प्रवेश कर गई। लेकिन दोनों आंदोलनों की परिस्थितियां एक जैसी नहीं हैं।

CJP के सामने अभी मूल प्रश्न ही यह है कि वह आंदोलन रहेगा, जन-दबाव समूह बनेगा या भविष्य में चुनावी राजनीति में प्रवेश करेगा। दीपके ने सार्वजनिक रूप से चुनाव लड़ने से दूरी जताई है। दूसरी ओर, सोनम वांगचुक जैसे समर्थकों ने यह संभावना व्यक्त की है कि CJP के युवा नेताओं में राजनीतिक महत्वाकांक्षा हो सकती है और यह

लोकतंत्र में अस्वाभाविक बात नहीं है।

लेकिन CJP के भीतर भी सब कुछ सुचारु नहीं है। पूर्व कार्यकर्ता मनीष ब्रह्मभट्ट ने अलग CJP-D मंच बनाने की घोषणा की और दीपके के नेतृत्व पर संगठन में जमीनी कार्यकर्ताओं को पर्याप्त स्थान न देने के आरोप लगाए। ये आरोप संगठन के भीतर उभरते मतभेदों की ओर संकेत करते हैं, हालांकि इनके राजनीतिक अर्थ पर अभी निष्कर्ष निकालना जल्दबाजी होगा।

किसी भी जनांदोलन की सफलता केवल भीड़ जुटाने या सोशल मीडिया पर लोकप्रिय होने से तय नहीं होती। असली कसौटी यह होती है कि वह अपने मूल मुद्दों पर कितने समय तक टिकता है, संगठन के भीतर लोकतांत्रिक ढांचा कितना मजबूत बनाता है और सरकारों से केवल विरोध नहीं बल्कि ठोस नीतिगत परिवर्तन हासिल कर पाता है।

CJP ने कम समय में शिक्षा और परीक्षा व्यवस्था जैसे मुद्दों को राष्ट्रीय बहस के केंद्र में ला दिया है। उसने यह भी दिखाया है कि आज की युवा पीढ़ी आंदोलन की भाषा बदल रही है। उसके लिए व्यंग्य, मीम, सोशल मीडिया और सड़क का आंदोलन

अलग-अलग माध्यम नहीं, बल्कि एक ही राजनीतिक संचार के हिस्से हैं।

फिर भी इसके सामने सबसे बड़ा सवाल यही है कि क्या 'कॉकरोच' केवल असंतुष्ट युवाओं की पहचान रहेगा या एक स्थायी राजनीतिक-सामाजिक शक्ति में बदल जाएगा?

अभी इसका उत्तर देना संभव नहीं है। इतना जरूर कहा जा सकता है कि CJP अब केवल एक स्थानीय या इंटरनेट-आधारित प्रयोग नहीं रह गया है। शिक्षा और रोजगार से शुरू हुआ इसका अभियान सरकारी जवाबदेही और लोकतांत्रिक अधिकारों तक पहुंच चुका है।

भारतीय राजनीति में कई बार नई शक्तियां तब पैदा होती हैं जब पुरानी राजनीतिक भाषा नई पीढ़ी की बेचैनी को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है। CJP की कहानी भी इसी बदलाव की ओर संकेत करती है। इसका भविष्य चाहे जो हो, इसने एक महत्वपूर्ण सवाल तो खड़ा कर ही दिया है—क्या भारत की युवा पीढ़ी केवल चुनाव के समय मतदाता रहेगी, या अपने मुद्दों के लिए राजनीतिक विमर्श को स्वयं प्रभावित करने की शक्ति भी हासिल करेगी?

<><><><><><><>

युवा क्यों सड़कों पर हैं? विकास के दावों के बीच गहराती खाई

एस. मसूद हुसैन

भारत की अर्थव्यवस्था बढ़ रही है, विकास के आंकड़े उत्साहजनक बताए जा रहे हैं और देश को दुनिया की तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्थाओं में गिना जा रहा है। फिर भी देश का युवा बेचैन है। छात्रों और युवाओं के हालिया विरोध-प्रदर्शनों ने एक असहज सवाल सामने ला दिया है—अगर अर्थव्यवस्था सचमुच इतनी तेजी से आगे बढ़ रही है, तो युवाओं को अपने भविष्य को लेकर इतनी चिंता क्यों है?

यह सवाल केवल बेरोजगारी का नहीं है। यह अवसरों, सामाजिक गतिशीलता, आर्थिक सुरक्षा और विकास के लाभों के समान वितरण का सवाल भी है। इससे बड़ा सवाल यह है कि क्या भारत अपने युवाओं को केवल विकास के आंकड़े दे रहा है या उन्हें ऐसा भविष्य भी दे रहा है जिस पर वे भरोसा कर सकें?

इन सवालों को समझने में अर्थशास्त्रियों डैरोन एसेमोग्लू और जेम्स ए. रॉबिन्सन की चर्चित पुस्तक *Why Nations Fail: The Origins of Power, Prosperity, and Poverty* मददगार हो सकती है। कई वर्ष पहले प्रकाशित यह पुस्तक आज भी एक बुनियादी सवाल उठाती है—कुछ देश समृद्ध क्यों होते हैं और कुछ देश अपनी अपार संभावनाओं के बावजूद पीछे क्यों रह जाते हैं?

लेखकों के अनुसार, किसी देश की समृद्धि केवल प्राकृतिक संसाधनों, भूगोल, तकनीक या अर्थव्यवस्था के आकार से तय नहीं होती। असली फर्क उसकी राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं से पड़ता है—सत्ता किसके हाथ में है, अवसर किसे मिलते हैं और आर्थिक शक्ति का वितरण किस तरह

होता है।

अवसर किसके लिए?

एसेमोग्लू और रॉबिन्सन राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं को broadly दो श्रेणियों में देखते हैं—समावेशी और शोषणकारी।

समावेशी संस्थाएं सत्ता और अवसरों का अपेक्षाकृत व्यापक वितरण करती हैं। वे कानून के शासन को मजबूत करती हैं, नागरिकों को सार्वजनिक जीवन में भागीदारी का अवसर देती हैं और ऐसी आर्थिक व्यवस्था तैयार करती हैं जिसमें लोग शिक्षा प्राप्त कर सकें, कौशल विकसित कर सकें, कारोबार शुरू कर सकें, निवेश कर सकें और नए विचारों को आगे बढ़ा सकें।



इसके विपरीत, शोषणकारी संस्थाओं में राजनीतिक और आर्थिक शक्ति अपेक्षाकृत छोटे समूह के हाथों में केंद्रित हो जाती है। यह समूह अपने प्रभाव का इस्तेमाल धन और विशेषाधिकार हासिल करने के लिए करता है। ऐसी व्यवस्था कुछ समय के लिए तेज आर्थिक विकास भी दिखा सकती है, लेकिन जब नए विचार, नई तकनीक या नए आर्थिक समूह स्थापित हितों के लिए चुनौती बनने लगते हैं, तो प्रतिस्पर्धा और नवाचार पर अंकुश लगने लगता है।

यहीं राजनीति और अर्थ-व्यवस्था एक-दूसरे से जुड़ जाती हैं। राज-नीतिक संस्थाएं आर्थिक गतिविधियों के नियम तय करती हैं, जबकि आर्थिक संपदा राजनीतिक प्रभाव को मजबूत कर सकती है। इस तरह एक दुष्चक्र बन सकता है—राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति को केंद्रित करती है और आर्थिक शक्ति फिर राज-नीतिक प्रभुत्व को मजबूत करती है।

भारत के संदर्भ में यह बात महत्वपूर्ण है। देश की विकास संबंधी समस्याओं को केवल गरीबी, संसाधनों की कमी, भूगोल या ऐतिहासिक पिछड़ेपन से नहीं समझा जा सकता। ये कारक महत्वपूर्ण जरूर हैं, लेकिन किसी देश का भविष्य केवल इनसे तय नहीं होता। यह भी मायने रखता है कि संस्थाएं कितनी खुली हैं और अवसरों का वितरण कितना व्यापक और निष्पक्ष है।

जब नया पुराने को चुनौती देता है

आर्थिक विकास की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसे अर्थशास्त्री 'सृजनात्मक विनाश' (Creative Destruction) कहते हैं। नई तकनीकें, नए व्यवसाय और नए उद्योग पुराने तौर-तरीकों और

कारोबारों की जगह लेते हैं।

समाज के लिए यह परिवर्तन लाभकारी हो सकता है, लेकिन जिन लोगों या समूहों को पुरानी व्यवस्था से लाभ मिलता है, उनके लिए यह चुनौती बन सकता है। नई तकनीक नए आर्थिक केंद्र पैदा करती है और इसके साथ राजनीतिक तथा सामाजिक शक्ति के पुराने समीकरण भी बदल सकते हैं।

यहीं नवाचार और स्थापित हितों के बीच टकराव पैदा होता है। जिन लोगों को मौजूदा व्यवस्था से लाभ मिलता है, वे अक्सर ऐसे बदलाव को प्राथमिकता देते हैं जो उनकी स्थिति को सुरक्षित रखे, न कि ऐसे परिवर्तन को जो सत्ता और आर्थिक अवसरों के नए केंद्र पैदा कर दे।

भारत जैसे युवा देश के लिए यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। हमारे पास प्रतिभा है, उद्यमशीलता है, तकनीकी क्षमता है और विशाल घरेलू बाजार है। लेकिन केवल इन संसाधनों का होना पर्याप्त नहीं है। सवाल यह है कि क्या हमारी संस्थाएं इन क्षमताओं को व्यापक अवसरों में बदलने की अनुमति देती हैं।

चीन का सवाल

भारत के सामने चीन का उदाहरण भी है। चीन ने पिछले कुछ दशकों में असाधारण आर्थिक परिवर्तन किया है और यह दिखाया है कि एक अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्था के भीतर भी तेज आर्थिक विकास संभव है।

लेकिन चीन का अनुभव एक व्यापक सवाल भी खड़ा करता है—क्या लंबे समय तक टिकाऊ विकास के लिए केवल आर्थिक वृद्धि पर्याप्त है? क्या संस्थागत जवाबदेही, व्यापक भागीदारी और स्वतंत्र नवाचार के लिए अनुकूल वातावरण भी आवश्यक नहीं हैं?

इसलिए भारत के लिए सवाल केवल यह नहीं होना चाहिए कि अर्थव्यवस्था कितनी तेजी से बढ़ रही है। सवाल यह भी होना चाहिए कि उस विकास को संभव बनाने वाली संस्थाएं कितनी खुली, प्रतिस्पर्धी और जवाबदेह हैं।

जीडीपी से आगे देखना होगा

जीडीपी का आंकड़ा महत्वपूर्ण है, लेकिन वह पूरी कहानी नहीं बताता।

किसी देश की अर्थव्यवस्था तेजी से बढ़ सकती है, जबकि उसके लाखों-करोड़ों नागरिकों को पर्याप्त रोजगार, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं, सामाजिक गतिशीलता और आर्थिक सुरक्षा उपलब्ध न हो।

इसलिए सबसे महत्वपूर्ण सवाल है—विकास का लाभ किसे मिल रहा है?

भारत की प्रगति का आकलन केवल अर्थव्यवस्था के आकार, एक्सप्रेसवे, बड़े बुनियादी ढांचा प्रोजेक्ट या विकास दर से नहीं किया जा सकता। कानून का शासन, संस्थाओं की स्वतंत्रता, राजनीतिक जवाबदेही, प्रतिस्पर्धा, भ्रष्टाचार पर नियंत्रण, शिक्षा तक पहुंच, सामाजिक गतिशीलता और आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण भी विकास के महत्वपूर्ण पैमाने हैं।

लोकतंत्र का अर्थ केवल चुनाव कराना नहीं है। एक स्वस्थ लोकतंत्र में ऐसी संस्थाएं भी जरूरी हैं जो नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करें, सत्ता के अत्यधिक केंद्रीकरण को रोकें और लोगों को आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में वास्तविक भागीदारी का अवसर दें।

युवाओं की बेचैनी को समझना होगा

यही वह संदर्भ है जिसमें हाल के युवा विरोध-प्रदर्शनों को देखा जाना चाहिए।

इन आंदोलनों को केवल किसी एक तत्काल मुद्दे की प्रतिक्रिया मानना पर्याप्त नहीं होगा। इनके पीछे रोजगार, अवसर, सामाजिक गतिशीलता, आर्थिक सुरक्षा और व्यवस्था की निष्पक्षता को लेकर व्यापक चिंताएँ भी हो सकती हैं।

जब युवाओं को लगने लगे कि शिक्षा रोजगार की गारंटी नहीं देती, मेहनत आर्थिक सुरक्षा की गारंटी नहीं देती और आर्थिक विकास बेहतर जीवन की गारंटी नहीं देता, तब समस्या केवल बेरोजगारी की नहीं रह जाती। यह व्यवस्था की विश्वसनीयता का सवाल बन जाती है।

युवा वर्ग किसी भी देश के भविष्य का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। उसकी आकांक्षाएँ केवल व्यक्तिगत सफलता की आकांक्षाएँ नहीं होतीं। वे यह भी बताती हैं कि समाज की संस्थाएँ कितने लोगों को आगे बढ़ने का अवसर दे रही हैं।

भारत के सामने असली चुनौती

भारत की अर्थव्यवस्था बढ़ रही है। इस तथ्य पर बहस हो सकती है कि विकास की गति कितनी पर्याप्त है, लेकिन मूल सवाल इससे कहीं आगे का है।

- **क्या विकास के अवसर व्यापक रूप से उपलब्ध हैं?**
- **क्या आर्थिक शक्ति कुछ हाथों में अधिकाधिक केंद्रित हो रही है?**
- **क्या शिक्षा और कौशल युवाओं को वास्तविक आर्थिक अवसरों से जोड़ पा रहे हैं?**
- **क्या मेहनत और योग्यता सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति के पर्याप्त रास्ते खोलती हैं?**
- **और क्या हमारी संस्थाएँ इतनी मजबूत और स्वतंत्र**
- **हैं कि वे सभी नागरिकों के लिए समान अवसर सुनिश्चित कर सकें?**

इन सवालों के उत्तर केवल आर्थिक आंकड़ों से नहीं मिलेंगे।

यह भी सही है कि विकास को केवल संस्थाएँ

निर्धारित नहीं करतीं। भूगोल, संस्कृति, शिक्षा, तकनीक, प्राकृतिक संसाधन और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। साथ ही, दशकों से जड़ जमा चुकी संस्थाओं और व्यवस्थाओं को बदलना आसान नहीं होता।

फिर भी भारत के सामने एक बड़ी ताकत मौजूद है—उसकी युवा आबादी, प्रतिभा, महत्वाकांक्षा, **उद्यमशील ऊर्जा और तकनीकी क्षमता।**

चुनौती यह सुनिश्चित करने की है कि संस्थागत बाधाएँ इन क्षमताओं के रास्ते में न खड़ी हों।

विकास की अंतिम कसौटी

इसलिए युवाओं के हालिया विरोध-प्रदर्शनों को केवल असंतोष की घटनाओं के रूप में देखने के बजाय उनके पीछे छिपे सवालों को समझना जरूरी है।

युवा रोजगार चाहते हैं। वे अवसर चाहते हैं। वे सामाजिक गतिशीलता चाहते हैं। वे आर्थिक सुरक्षा चाहते हैं। सबसे बढ़कर, वे यह भरोसा चाहते हैं कि उनकी मेहनत और प्रतिभा उन्हें आगे बढ़ने का वास्तविक अवसर देगी।

अंततः किसी भी अर्थव्यवस्था की सफलता केवल इस बात से नहीं मापी जानी चाहिए कि उसकी जीडीपी कितनी तेजी से बढ़ रही है। असली कसौटी यह है कि उस विकास से पैदा होने वाले अवसर कितने व्यापक रूप से समाज में वितरित हो रहे हैं।

भारत के पास अपार संभावनाएँ हैं। उन्हें साकार करने के लिए आर्थिक वृद्धि के साथ ऐसी संस्थाओं की भी आवश्यकता है जो प्रतिस्पर्धा, जवाबदेही, सामाजिक गतिशीलता और सार्थक जनभागीदारी को बढ़ावा दें। और शायद भारत के युवाओं की आकांक्षाएँ ही इस बात की सबसे स्पष्ट परीक्षा हैं कि देश का विकास वास्तव में कितने लोगों के लिए अवसर पैदा कर रहा है।

क्या भारत के युवा सचमुच संस्कारहीन हो रहे हैं?

युवाओं के बदलते व्यवहार पर बहस के पीछे छिपे राजनीतिक और सामाजिक सवाल

मीडिया मैप नेटवर्क

नई दिल्ली: क्या भारत की युवा पीढ़ी सचमुच 'संस्कारहीन' होती जा रही है? या 'संस्कारहीन' जैसे शब्दों का इस्तेमाल युवाओं की असहमति और विरोध को बदनाम करने के लिए किया जा रहा है? देश में युवाओं के व्यवहार और मूल्यों को लेकर छिड़ी बहस अब केवल शिष्टाचार और भाषा तक सीमित नहीं रह गई है। इसके केंद्र में बेरोजगारी, शिक्षा, अवसरों की कमी, राजनीतिक ध्रुवीकरण और बदलती सामाजिक संस्कृति जैसे गंभीर सवाल भी हैं।



वरिष्ठ पत्रकारों, शिक्षाविदों और राजनीतिक टिप्पणीकारों की एक चर्चा में इस मुद्दे पर विचार करते हुए कहा गया कि आज की पूरी युवा पीढ़ी को 'संस्कारहीन' करार देना वास्तविकता को अत्यधिक सरल बना देना है। युवाओं के व्यवहार को समझने के लिए उन परिस्थितियों को भी देखना होगा जिनमें वे जीवन और राजनीति का सामना कर रहे हैं।

आज का युवा एक ऐसे दौर से गुजर रहा है जिसमें रोजगार के अवसर सीमित हैं, शिक्षा महंगी और अनिश्चित होती जा रही है तथा भविष्य को लेकर असुरक्षा बढ़ी है। इसके साथ राजनीतिक और सामाजिक ध्रुवीकरण भी बढ़ा है। इन परिस्थितियों का असर युवाओं की भाषा, सोच और विरोध के तरीकों पर पड़ना स्वाभाविक है।

क्या होते हैं संस्कार?

बहस में एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी उठा कि आखिर 'संस्कार' की परिभाषा क्या है? क्या संस्कार कोई स्थायी और सार्वभौमिक मानदंड हैं, जिन्हें हर पीढ़ी पर समान रूप से लागू किया जा सकता है? वक्ताओं का कहना था कि प्रत्येक पीढ़ी अपने समय और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप मूल्यों को परिभाषित करती है। पिछली पीढ़ियों के अनुभव और मानदंड महत्वपूर्ण हो सकते हैं, लेकिन उनके आधार पर आज के युवाओं का मूल्यांकन करना पर्याप्त नहीं है। तकनीक, सोशल मीडिया, वैश्वीकरण और बदलती सांस्कृतिक मान्यताओं ने सामाजिक व्यवहार को तेजी से बदला है।

इसलिए आज के युवा की भाषा या व्यवहार में आए बदलाव को केवल नैतिक पतन के रूप में देखना समस्या को समझने के बजाय उसे एक आसान लेबल दे देना होगा।

विरोध की भाषा और मर्यादा

हाल के छात्र आंदोलनों और प्रदर्शनों ने इस बहस को और तीखा कर दिया है। जैन समुदाय से जुड़े हालिया आंदोलन के दौरान कुछ प्रदर्शनकारियों द्वारा आपत्तिजनक और अभद्र नारे लगाए जाने की व्यापक आलोचना हुई। निस्संदेह सार्वजनिक जीवन में भाषा की मर्यादा महत्वपूर्ण है। लेकिन कुछ लोगों के व्यवहार के आधार पर पूरे आंदोलन या पूरी युवा पीढ़ी को कठघरे में खड़ा करना भी उचित नहीं होगा।

भारत के राजनीतिक इतिहास में छात्र आंदोलनों की भूमिका को देखें तो पता चलता है कि युवाओं ने सत्ता और स्थापित व्यवस्था को चुनौती देने के लिए हमेशा मुखर भाषा का इस्तेमाल किया है। स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर बाद के अनेक जनांदोलनों तक युवाओं की भाषा में आक्रोश और प्रतिरोध दिखाई देता रहा है।

इसका अर्थ यह नहीं कि अभद्र भाषा को उचित ठहराया जाए। सवाल केवल इतना है कि क्या तीखी भाषा को हर परिस्थिति में संस्कारों के पतन का प्रमाण मान लिया जाना चाहिए? कई बार भाषा के पीछे लंबे समय से जमा असंतोष और निराशा भी होती है।

नेताओं के लिए भी सवाल

इस बहस का एक दूसरा पहलू राजनीतिक नेतृत्व का आचरण है। युवा प्रदर्शनकारियों से अक्सर संयम, शालीनता और मर्यादा की अपेक्षा की जाती है। लेकिन क्या सार्वजनिक जीवन में स्वयं राजनीतिक भाषा का स्तर हमेशा वैसा ही रहा है? राजनीतिक बहस में व्यक्तिगत आरोप, तीखी टिप्पणियाँ और आक्रामक भाषा अब असामान्य नहीं रह गई हैं। ऐसे में युवाओं से केवल मर्यादा की अपेक्षा करना और राजनीतिक प्रतिष्ठान के अपने व्यवहार को नजरअंदाज करना दोहरे मानदंड का आभास दे सकता है।

सत्ता और सार्वजनिक पदों पर बैठे लोगों की जिम्मेदारी अधिक होती है। यदि वे सार्वजनिक संवाद का स्तर ऊँचा रखना चाहते हैं तो उन्हें अपने आचरण से उसका उदाहरण भी प्रस्तुत करना होगा।

बदलते मीडिया ने बदली भाषा

युवाओं की भाषा और व्यवहार में आए बदलाव का संबंध मनोरंजन और डिजिटल मीडिया से भी है। सिनेमा, टेलीविजन और अब ओटीटी तथा सोशल मीडिया ने ऐसी भाषा को व्यापक बनाया है जिसे कुछ दशक पहले सार्वजनिक रूप से अस्वीकार्य माना जाता था।

अभद्र भाषा को अब कई बार 'यथार्थवाद' या 'बोलचाल की वास्तविक भाषा' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सोशल मीडिया ने इस प्रक्रिया को और तेज किया है। परिणामस्वरूप स्वीकार्य भाषा की सामाजिक सीमा भी बदल रही है।

इस बदलाव को केवल युवाओं की समस्या कहना

शायद सही तस्वीर नहीं होगी। युवा उसी व्यापक सांस्कृतिक वातावरण का हिस्सा हैं जिसे समाज और मीडिया मिलकर निर्मित कर रहे हैं।

संस्कार की बहस और सामाजिक असमानता

'संस्कार' की बहस का एक महत्वपूर्ण पक्ष जाति, वर्ग और लैंगिक असमानता से भी जुड़ा है। समाज में स्वीकार्य व्यवहार के मानदंड क्या सभी लोगों पर समान रूप से लागू होते हैं?

अक्सर शक्तिशाली और प्रभावशाली लोगों द्वारा कही गई तीखी बातें राजनीतिक बयान या वक्तव्य मानकर स्वीकार कर ली जाती हैं, जबकि वही भाषा किसी छात्र, प्रदर्शनकारी या वंचित समुदाय के व्यक्ति द्वारा इस्तेमाल किए जाने पर अधिक कठोर आलोचना का कारण बनती है।

इसलिए संस्कार की चर्चा करते समय यह देखना भी जरूरी है कि हम किसके व्यवहार को 'असंस्कारी' कह रहे हैं और किसके व्यवहार को 'राजनीतिक अभिव्यक्ति' या 'आक्रोश' मान रहे हैं।

असली सवाल क्या है?

कुछ प्रतिभागियों ने युवाओं को 'संस्कारहीन' कहे जाने को राजनीतिक रणनीति के रूप में भी देखा। उनके अनुसार, ऐसा लेबल लगाने से उन वास्तविक समस्याओं पर चर्चा से बचा जा सकता है जो युवाओं में असंतोष पैदा कर रही हैं।

लेकिन यदि बेरोजगारी, शिक्षा में अनिश्चितता, रोजगार की घटती संभावनाएँ, अकादमिक स्वतंत्रता और भविष्य को लेकर चिंता जैसे सवाल लगातार बने रहें, तो केवल युवाओं की भाषा पर सवाल उठाने से समस्या का समाधान नहीं होगा।

आज की युवा पीढ़ी से संवाद की आवश्यकता है, उसके प्रति उपदेशात्मक रवैये की नहीं। उसे यह बताना पर्याप्त नहीं कि वह क्या गलत कर रही है; यह समझना भी जरूरी है कि वह ऐसा क्यों कर रही है।

पीढ़ी को कठघरे में खड़ा करने से समाधान नहीं

किसी भी पूरी पीढ़ी को एक ही विशेषण में बाँध देना आसान है, लेकिन इससे वास्तविकता समझ में नहीं आती। आज का युवा पिछली पीढ़ियों से अलग है, क्योंकि उसका सामाजिक और तकनीकी परिवेश भी अलग है। उसके सामने नई चुनौतियाँ हैं और अभिव्यक्ति के नए माध्यम भी।

इसलिए युवाओं के व्यवहार पर बहस होनी चाहिए—लेकिन आरोपों और नैतिक निर्णयों के बजाय तथ्यों और संवाद के आधार पर।

राजनीतिक नेतृत्व, शिक्षण संस्थानों और नागरिक समाज के सामने असली चुनौती यह है कि वे युवाओं की आकांक्षाओं, बेचैनी और असहमति को समझें। लोकतंत्र में असहमति कोई समस्या नहीं है; उसे दबाना या बदनाम करना समस्या बन सकता है।

नैतिक नेतृत्व की शुरुआत केवल युवाओं से अपेक्षाएँ करने से नहीं, बल्कि सार्वजनिक जीवन में बैठे लोगों के अपने आचरण से होती है। लोकतंत्र तब मजबूत होता है जब असहमति का जवाब दमन से नहीं, बल्कि जवाबदेही, संवेदनशीलता और सार्थक संवाद से दिया जाता है।

<><><><><><><>



शिक्षा किस दिशा में? नीति, राजनीति और गिरते शैक्षिक स्तर पर गंभीर सवाल

अनुभव माथुर

नई दिल्ली: भारत की शिक्षा व्यवस्था आखिर किस दिशा में जा रही है? क्या शिक्षा नीति का लक्ष्य आने वाली पीढ़ी को भविष्य की चुनौतियों के लिए तैयार करना है या शिक्षा भी धीरे-धीरे राजनीतिक और वैचारिक खांचे में ढलती जा रही है? हाल में हुई एक परिचर्चा में वरिष्ठ पत्रकारों और शिक्षा क्षेत्र से जुड़े विशेषज्ञों ने इन सवालों पर गंभीर चिंता व्यक्त की।

चर्चा में कहा गया कि देश में शिक्षा के क्षेत्र में कुछ सकारात्मक पहल जरूर हुई हैं, लेकिन एक स्पष्ट और दूरगामी शैक्षिक दृष्टि का अभाव दिखाई देता है। उच्च शिक्षा, वैज्ञानिक अनुसंधान, संस्थागत स्वायत्तता और सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता जैसे बुनियादी सवालों के साथ-साथ अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों के अधिकार भी चिंता का विषय बनते जा रहे हैं।

शिक्षा नीति में दीर्घकालिक दृष्टि का सवाल

वक्ताओं के अनुसार, मौजूदा शिक्षा नीति में प्राथमिक शिक्षा और पारंपरिक सांस्कृतिक अवधारणाओं से आगे की व्यापक दृष्टि पर्याप्त स्पष्ट नहीं है। उच्च शिक्षा, वैज्ञानिक अनुसंधान और विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता को वह प्राथमिकता नहीं मिल रही जिसकी देश को आवश्यकता है।

पैनल ने राजीव गांधी सरकार के दौरान लागू राष्ट्रीय शिक्षा नीति और नवोदय विद्यालयों जैसी पहलों का उल्लेख करते हुए कहा कि उस दौर में शिक्षा को आधुनिक बनाने और ग्रामीण तथा पिछड़े क्षेत्रों के विद्यार्थियों के लिए अवसर बढ़ाने का प्रयास किया गया था।

इसके विपरीत, वक्ताओं का आरोप था कि वर्तमान दौर में शिक्षा के क्षेत्र में वैचारिक आग्रहों का प्रभाव बढ़ता दिखाई दे रहा है। विश्वविद्यालयों में महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियों को लेकर भी सवाल उठाए गए। प्रतिभागियों ने कहा कि इन नियुक्तियों में अकादमिक योग्यता और अनुभव को सर्वोच्च महत्व मिलना चाहिए, न कि राजनीतिक निकटता को।

सरकारी स्कूल: बुनियादी सुविधाओं का संकट

परिचर्चा में सरकारी स्कूलों की स्थिति पर विशेष चिंता जताई गई। वक्ताओं के अनुसार, पिछले एक दशक में अनेक राज्यों में सरकारी स्कूलों में विद्यार्थियों के नामांकन में कमी आई है। इसे उन्होंने सरकारी शिक्षा व्यवस्था में जनता के घटते भरोसे से जोड़कर देखा।

कई स्कूलों में पंखे और पर्याप्त कक्षाओं से लेकर सुरक्षित पेयजल, पाठ्यपुस्तकों, विज्ञान प्रयोगशालाओं और कंप्यूटर सुविधाओं तक की कमी का उल्लेख किया गया।

वक्ताओं ने कहा कि मिड-डे मील जैसी कल्याणकारी योजनाएं महत्वपूर्ण हैं, लेकिन केवल भोजन उपलब्ध करा देना गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की गारंटी नहीं हो सकता। अच्छे शिक्षक, पर्याप्त संसाधन, आधुनिक प्रयोगशालाएं, डिजिटल सुविधाएं और सीखने का बेहतर वातावरण भी उतने ही जरूरी हैं।

राजस्थान, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश सहित विभिन्न

राज्यों में विद्यार्थियों द्वारा बेहतर शैक्षिक सुविधाओं की मांग को लेकर किए गए विरोध-प्रदर्शनों का भी उल्लेख किया गया।

अल्पसंख्यक संस्थानों के अधिकार पर बहस

परिचर्चा का सबसे संवेदनशील हिस्सा अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थानों की स्थिति से संबंधित था।

पैनल के सदस्यों ने आरोप लगाया कि कई राज्यों में मुस्लिम और ईसाई समुदायों द्वारा संचालित संस्थानों को कानूनी और प्रशासनिक दबाव का सामना करना पड़ रहा है। उनके अनुसार, यह स्थिति संविधान के अनुच्छेद 30 के तहत अल्पसंख्यकों को प्राप्त अपने शिक्षण संस्थान स्थापित करने और उनका प्रशासन करने के अधिकार को लेकर गंभीर प्रश्न खड़े करती है।

इस संदर्भ में रामपुर स्थित मोहम्मद अली जौहर विश्वविद्यालय का उदाहरण दिया गया। चर्चा के अनुसार, विश्वविद्यालय को कथित अवैध निर्माण के संबंध में नोटिस दिए गए हैं और परिसर की अनेक इमारतों को लेकर प्रशासनिक कार्रवाई की जा रही है।

पैनल के अनुसार, इस विवाद ने शिक्षाविदों और नागरिक समाज के विभिन्न वर्गों में चिंता पैदा की है। विश्वविद्यालय के समर्थन में आयोजित प्रदर्शनों में विभिन्न समुदायों के विद्यार्थियों की भागीदारी का भी उल्लेख किया गया।

वक्ताओं ने इसे केवल किसी एक विश्वविद्यालय का मामला न मानते हुए भारत में अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों की स्थिति और उनके संवैधानिक अधिकारों पर चल रही व्यापक बहस से जोड़कर देखा।

विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता और अकादमिक स्वतंत्रता

उच्च शिक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान की स्थिति भी चर्चा का प्रमुख विषय रही।

पैनल के सदस्यों ने विश्वविद्यालयों में बढ़ते राजनीतिक हस्तक्षेप पर चिंता जताते हुए कहा कि इससे संस्थागत स्वायत्तता और अकादमिक निर्णय लेने की स्वतंत्रता प्रभावित हो सकती है।

उनका कहना था कि वैज्ञानिक अनुसंधान को अधिक संसाधन और प्राथमिकता दिए जाने की जरूरत है। अनुसंधान तथा पाठ्यक्रम निर्माण में वैचारिक प्रभाव बढ़ने की आशंका भी व्यक्त की गई।

विश्वविद्यालयों में नियुक्तियों की प्रक्रिया तथा उच्च शिक्षा और प्रतियोगी परीक्षाओं से संबंधित नियामक संस्थाओं के कामकाज पर भी सवाल उठाए गए। वक्ताओं ने कहा कि शिक्षा व्यवस्था का आधार पारदर्शिता, योग्यता और संस्थागत स्वतंत्रता होना चाहिए।

शिक्षा पर खर्च: क्या संसाधन पर्याप्त हैं?

परिचर्चा में यह सवाल भी उठा कि क्या भारत अपनी विकास संबंधी जरूरतों के अनुरूप शिक्षा पर पर्याप्त सार्वजनिक धन खर्च कर रहा है।

वक्ताओं ने कहा कि शिक्षा विशेषज्ञों और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की ओर से लंबे समय से शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय बढ़ाने, शिक्षकों के प्रशिक्षण में सुधार करने, बुनियादी ढांचे को मजबूत करने और अनुसंधान क्षमता विकसित करने की आवश्यकता पर जोर दिया जाता रहा है।

छात्रवृत्तियों, नए शैक्षणिक कार्यक्रमों की मंजूरी और अन्य प्रशासनिक प्रक्रियाओं में देरी का भी उल्लेख किया गया। प्रतिभागियों के अनुसार, ऐसी देरी का सीधा असर विद्यार्थियों और संस्थानों के कामकाज पर पड़ता है।

शिक्षा के सवाल पर मीडिया कहां है?

पैनल ने शिक्षा संबंधी मुद्दों को पर्याप्त महत्व न देने के लिए मुख्यधारा के मीडिया की भी आलोचना की। वक्ताओं का कहना था कि शिक्षा जैसे दीर्घकालिक महत्व के विषय अक्सर राजनीतिक आरोप-

प्रत्यारोप या तात्कालिक खबरों के पीछे दब जाते हैं। दूसरी ओर, डिजिटल मीडिया और सोशल मीडिया को उन्होंने विद्यार्थियों की आवाज को सामने लाने का महत्वपूर्ण माध्यम माना। इन प्लेटफॉर्मों ने छात्रों और शिक्षकों को अपनी समस्याएं सीधे जनता तक पहुंचाने का अवसर दिया है।

पैनल ने सुझाव दिया कि स्वतंत्र पत्रकारों, शिक्षाविदों और नागरिक समाज संगठनों को मिलकर शिक्षा नीति पर गंभीर और तथ्याधारित सार्वजनिक विमर्श विकसित करना चाहिए।

इसके लिए शिक्षाविदों और बुद्धिजीवियों का एक साझा मंच बनाने, अल्पसंख्यक शिक्षा से संबंधित मुद्दों पर एक विशेष पत्रिका प्रकाशित करने तथा सेमिनारों और जन-अभियानों के आयोजन जैसे सुझाव भी दिए गए।

अब आगे क्या?

परिचर्चा का निष्कर्ष था कि शिक्षा को दलगत राजनीति से ऊपर उठाकर एक राष्ट्रीय प्राथमिकता के रूप में देखा जाना चाहिए।

भारत की सामाजिक और आर्थिक प्रगति के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता, संवैधानिक अधिकारों की रक्षा और योग्यता आधारित प्रशासन आवश्यक हैं। इसके लिए सरकारी शिक्षा व्यवस्था को मजबूत करना, स्कूलों में बुनियादी सुविधाएं सुनिश्चित करना, वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रोत्साहित करना और उच्च शिक्षा संस्थानों को स्वतंत्र चिंतन के केंद्र के रूप में विकसित करना जरूरी है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षा को केवल पाठ्यक्रम और परीक्षाओं तक सीमित नहीं किया जा सकता। यह उस समाज और राष्ट्र के भविष्य का निर्माण करती है जिसे हम आने वाली पीढ़ियों के लिए छोड़ना चाहते हैं।

इसलिए शिक्षा नीति पर बहस केवल सरकार और विश्वविद्यालयों तक सीमित नहीं रहनी चाहिए। इसमें शिक्षक, विद्यार्थी, अभिभावक, शिक्षाविद्, पत्रकार और नागरिक समाज—सभी की भागीदारी आवश्यक है। एक समावेशी, गुणवत्तापूर्ण और स्वतंत्र शिक्षा व्यवस्था के निर्माण के लिए व्यापक जनभागीदारी और पारदर्शी नीति-निर्माण ही आगे का रास्ता हो सकता है।

युवा पीढ़ी: अवसरों और चुनौतियों के बीच

आज की युवा पीढ़ी ऊर्जा, प्रतिभा और संभावनाओं से भरी हुई है। उसके सामने अवसरों की कमी नहीं है—तकनीक, शिक्षा, उद्यमिता और वैश्विक संपर्क ने उसके लिए नई राहें खोली हैं। लेकिन इसी के साथ उस पर सफलता का दबाव, सोशल मीडिया का प्रभाव, प्रतिस्पर्धा, बेरोजगारी और भविष्य को लेकर अनिश्चितता भी बढ़ी है। कई युवा त्वरित सफलता और दिखावे की संस्कृति से प्रभावित होते हैं, जबकि वास्तविक जीवन धैर्य, निरंतर प्रयास और अनुशासन की मांग करता है। ऐसे समय में युवाओं को केवल नौकरी पाने या आर्थिक रूप से सफल होने की नहीं, बल्कि अपने व्यक्तित्व, चरित्र, संवेदनशीलता और सामाजिक जिम्मेदारी को विकसित करने की भी आवश्यकता है। युवा यदि अपनी ऊर्जा को सकारात्मक दिशा दें, प्रश्न पूछने के साथ सही उत्तर खोजने का धैर्य रखें और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझें, तो वे केवल अपना भवि सकते हैं।

जगदीश गौतम

भारत की आर्थिक पुनर्बहाली का नया चेहरा

शिवाजी सरकार

Gen Z का रोजगार संकट: 30 ट्रिलियन डॉलर के सपने के बीच नौकरी कहाँ है?
आर्थिक विकास के ऊँचे दावों के बावजूद युवा बेरोजगारी, अल्परोजगार और गिग इकोनॉमी की असुरक्षा भारत के जनसांख्यिकीय लाभांश पर बड़ा सवाल खड़ा कर रही है

भारत 2047 तक 30 ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था बनने का सपना देख रहा है। लेकिन इसी सपने के बीच एक असहज सवाल तेजी से सामने आ रहा है—क्या भारत अपने युवाओं के लिए पर्याप्त, स्थायी और सम्मानजनक रोजगार पैदा कर पाएगा?

देश की Gen Z, जो भारत के विशाल युवा कार्यबल का महत्वपूर्ण हिस्सा है, आज बेरोजगारी, अल्परोजगार और असुरक्षित काम की त्रिकोणीय चुनौती से जूझ रही है। अर्थव्यवस्था का आकार बढ़ रहा है, निवेश हो रहा है और बुनियादी ढांचे का विस्तार हो रहा है, लेकिन रोजगार सृजन उसी गति से नहीं हो रहा।

यही विरोधाभास भारत के तथाकथित जनसांख्यिकीय लाभांश को लेकर चिंता पैदा करता है।

कुल बेरोजगारी कम, युवाओं की चिंता ज्यादा

पीरियॉडिक लेबर फोर्स सर्वे (PLFS) 2023-24 के अनुसार देश की कुल बेरोजगारी दर लगभग 3 प्रतिशत है। लेकिन युवा वर्ग की तस्वीर इससे काफी अलग है। Gen Z में बेरोजगारी दर 11.9 प्रतिशत बताई गई है।



शिक्षित युवाओं की स्थिति और गंभीर है। स्नातक स्तर के युवाओं में बेरोजगारी दर पुरुषों के लिए करीब 29 प्रतिशत और महिलाओं के लिए 36.9 प्रतिशत बताई गई है।

इससे एक बुनियादी सवाल उठता है—क्या भारत की शिक्षा व्यवस्था और उसकी अर्थव्यवस्था के बीच कोई गंभीर disconnect पैदा हो गया है?

डिग्रियां बढ़ रही हैं, लेकिन उनके अनुरूप रोजगार के अवसर नहीं बढ़ रहे। परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में युवा या तो अपनी योग्यता से नीचे के काम करने को मजबूर हैं या अस्थायी और अनौपचारिक रोजगार का सहारा ले रहे हैं।

गिग इकोनॉमी: रोजगार या नई असुरक्षा?

रोजगार के संकट ने गिग इकोनॉमी को तेजी से बढ़ावा दिया है। ऐप आधारित डिलीवरी, ड्राइविंग, लॉजिस्टिक्स और दूसरे प्लेटफॉर्म रोजगार युवाओं को काम तो देते हैं, लेकिन अक्सर स्थायी आय और सामाजिक सुरक्षा नहीं देते।

आर्थिक सर्वेक्षण 2025-26 ने भी रोजगार के बढ़ते अनौपचारिकीकरण और कैजुअलाइजेशन को लेकर चिंता जताई है।

गिग मॉडल में कंपनियों को लचीलापन और लागत में कमी का लाभ मिलता है, जबकि कामगार पर जोखिम का बड़ा हिस्सा चला जाता है। ईंधन, वाहन का रखरखाव, मांग में उतार-चढ़ाव और आय की अनिश्चितता—इन सबका बोझ अक्सर श्रमिक ही उठाता है।

इसलिए सवाल केवल यह नहीं है कि कितने लोगों को काम मिला, बल्कि यह भी है कि उन्हें किस तरह का काम मिला।

अगर काम अस्थायी है, आय अनिश्चित है और सामाजिक सुरक्षा नगण्य है, तो उसे पूर्ण रोजगार की कसौटी पर कैसे परखा जाए?

2047 का सपना और 2030 की हकीकत

भारत ने 2047 तक 30 ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था बनने का लक्ष्य रखा है। लेकिन 2047 बहुत दूर है। आज के कई नीति-निर्माता और आर्थिक परिस्थितियां उस समय तक बदल चुकी होंगी।

इसलिए अधिक महत्वपूर्ण सवाल 2047 का नहीं बल्कि 2030 का है।

भारत 2030 तक अपनी विशाल युवा आबादी को कितने उत्पादक रोजगार दे पाएगा?

PLFS 2023-24 के आधार पर भारत के श्रम बाजार में Gen Z की अनुमानित संख्या करीब 29.94 करोड़ बताई गई है। यह संख्या अपने आप में भारत के सामने मौजूद अवसर और चुनौती दोनों को दिखाती है।

इतनी बड़ी युवा आबादी तभी आर्थिक ताकत बन सकती है जब उसे अच्छी शिक्षा, बाजार-उपयोगी कौशल और स्थायी रोजगार मिले।

अन्यथा जनसांख्यिकीय लाभांश धीरे-धीरे जनसांख्यिकीय बोझ में बदल सकता है।

इंफ्रास्ट्रक्चर बढ़ा, रोजगार कितना बढ़ा?

भारत में सड़क, रेलवे, आवास और अन्य बुनियादी ढांचे पर बड़े पैमाने पर खर्च हो रहा है। इससे निर्माण गतिविधियां और कंपनियों के कारोबार बढ़ते हैं।

लेकिन एक महत्वपूर्ण सवाल अक्सर पीछे छूट जाता है—इन परियोजनाओं से कितने स्थायी और अच्छी आय वाले रोजगार पैदा हो रहे हैं?

यदि आर्थिक गतिविधियां बढ़ती हैं लेकिन रोजगार का बड़ा हिस्सा अस्थायी या कम मजदूरी वाला रहता है, तो GDP की वृद्धि और आम लोगों की आर्थिक स्थिति के बीच अंतर बढ़ सकता है।

कम मजदूरी और अल्परोजगार इस समस्या को और गहरा करते हैं। शिक्षित युवा भी कई बार ऐसी नौकरियां स्वीकार करते हैं जो उनकी योग्यता और अपेक्षाओं से काफी नीचे होती हैं।

परिवारों पर बढ़ता आर्थिक दबाव

रोजगार संकट का असर केवल युवा पर नहीं पड़ता। इसका सीधा असर परिवारों की आर्थिक स्थिति पर भी होता है।माता-पिता बच्चों की उच्च शिक्षा पर बड़ी रकम खर्च करते हैं। उम्मीद होती है कि अच्छी डिग्री के बाद स्थायी नौकरी मिलेगी और परिवार की आर्थिक स्थिति मजबूत होगी। लेकिन जब शिक्षा रोजगार में तब्दील नहीं होती तो शिक्षा पर किया गया निवेश परिवार के लिए आर्थिक बोझ बन सकता है। कम रोजगार और कम आय का असर घरेलू बचत और उपभोग पर भी पड़ता है। लंबे समय में यह आर्थिक विकास की गति को प्रभावित कर सकता है।

महिलाओं की भागीदारी अब भी चुनौती

Gen Z महिलाओं की स्थिति विशेष चिंता पैदा करती है। शहरी Gen Z महिलाओं में बेरोजगारी दर लगभग 22.6 प्रतिशत बताई गई है। बड़ी संख्या में महिलाएं अभी भी घरेलू जिम्मेदारियों तक सीमित हैं।

हालांकि महिला श्रम बल भागीदारी दर 2023-24 में बढ़कर 41.7 प्रतिशत हुई है, लेकिन बाल देखभाल, सुरक्षित परिवहन, कार्यस्थल की सुरक्षा और उपयुक्त रोजगार की कमी जैसी बाधाएं अब भी बनी हुई हैं।महिलाओं को रोजगार बाजार में अधिक व्यापक अवसर दिए बिना भारत अपनी पूरी युवा कार्यशक्ति का उपयोग नहीं कर सकता।

जनसांख्यिकीय लाभांश या भविष्य का बोझ?

भारत की सबसे बड़ी ताकत उसकी युवा आबादी है। लेकिन युवा आबादी अपने आप आर्थिक लाभांश नहीं बन जाती। उसे शिक्षा, कौशल, रोजगार और सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता होती है।

यदि बड़ी संख्या में युवा बेरोजगार या अल्परोजगार रह जाते हैं, तो आर्थिक असुरक्षा के साथ सामाजिक असंतोष भी बढ़ सकता है।

इसलिए भारत को रोजगार सृजन को आर्थिक नीति के केंद्र में रखना होगा। श्रम-प्रधान विनिर्माण, छोटे और मध्यम उद्योगों का विस्तार, उद्योग की जरूरतों के अनुरूप कौशल प्रशिक्षण, शिक्षा और रोजगार के बीच बेहतर तालमेल तथा औपचारिक क्षेत्र में अधिक अवसर इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हो सकते हैं। गिग और असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा का मजबूत ढांचा भी आवश्यक है।

30 ट्रिलियन डॉलर से बड़ा सवाल

30 ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था का लक्ष्य महत्वाकांक्षी हो सकता है, लेकिन किसी देश की आर्थिक सफलता केवल GDP के आकार से तय नहीं होती।

असल सवाल यह है कि उस वृद्धि से कितने लोगों को स्थायी रोजगार मिला, कितने युवाओं की आय बढ़ी और कितने परिवार आर्थिक सुरक्षा हासिल कर पाए।

भारत के सामने इसलिए सबसे बड़ी चुनौती केवल बड़ी अर्थव्यवस्था बनने की नहीं, बल्कि रोजगार-प्रधान अर्थव्यवस्था बनने की है।

Gen Z भारत की सबसे बड़ी युवा शक्ति बन सकती है—लेकिन इसके लिए उसे आंकड़ों में नहीं, अवसरों में बदलना होगा।

2047 का सपना तभी सार्थक होगा जब 2030 की पीढ़ी के पास आज से बेहतर रोजगार, आय और सामाजिक सुरक्षा हो। वरना 30 ट्रिलियन डॉलर का सपना बड़ा जरूर होगा, लेकिन उसके नीचे खड़ी युवा पीढ़ी का सवाल उससे भी बड़ा रहेगा -

"हमारे लिए रोजगार कहां है?"

(लेखक एक वरिष्ठ पत्रकार और मीडिया एक्टिविस्ट हैं, जो फाइनेंशियल जर्नलिज़्म में विशेषज्ञता रखते हैं।)

राजीव गांधी: आधुनिक भारत के स्वप्नद्रष्टा को श्रद्धांजलि

जगदीश गौतम

भारत के राजनीतिक इतिहास में कुछ व्यक्तित्व ऐसे रहे हैं, जिनका प्रभाव उनके कार्यकाल की अवधि से कहीं अधिक व्यापक रहा। राजीव गांधी भी ऐसे ही नेताओं में थे। एक ऐसे समय में जब भारत परंपरागत राजनीतिक सोच, धीमी प्रशासनिक प्रक्रियाओं और तकनीकी सीमाओं से गुजर रहा था, राजीव गांधी ने देश को आधुनिक तकनीक, कंप्यूटर, दूरसंचार और नई पीढ़ी की आकांक्षाओं से जोड़ने का प्रयास किया।

वे ऐसे प्रधानमंत्री थे जिन्होंने भारत को केवल तत्कालीन चुनौतियों से निकालने की कोशिश नहीं की, बल्कि आने वाले समय की भी कल्पना की। कंप्यूटर और सूचना तकनीक को लेकर जब दुनिया तेजी से बदल रही थी, तब भारत में भी तकनीकी बदलाव की आवश्यकता को राजनीतिक नेतृत्व के स्तर पर प्रमुखता मिली। युवाओं को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में अधिक भागीदारी देने, शिक्षा के विस्तार और प्रशासन के आधुनिकीकरण जैसे विषय उनके राजनीतिक एजेंडे का हिस्सा बने।

लेकिन राजीव गांधी की कहानी केवल उपलब्धियों की कहानी नहीं है। उनके शासनकाल में ऐसे निर्णय भी हुए जिन पर तीखी राजनीतिक बहस हुई। बोफोर्स विवाद, श्रीलंका में भारतीय शांति सेना भेजने का फैसला और कुछ अन्य राजनीतिक घटनाक्रम उनके प्रधानमंत्रित्व की जटिलताओं को सामने रखते हैं।

इसलिए राजीव गांधी को समझना केवल प्रशंसा या आलोचना के किसी एक नजरिये से संभव नहीं है। उनकी राजनीतिक यात्रा स्वतंत्र भारत के उस महत्वपूर्ण दौर का दस्तावेज है, जब देश परंपरा से आधुनिकता, कागज से कंप्यूटर और पुरानी प्रशासनिक व्यवस्था से तकनीकी भारत की ओर बढ़ रहा था।

राजनीति में आने से पहले का जीवन

राजीव गांधी का जन्म 20 अगस्त 1944 को मुंबई में हुआ। वे तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नाती और इंदिरा गांधी के बड़े पुत्र थे। राजनीतिक परिवार में जन्म लेने के बावजूद उनका शुरुआती जीवन सक्रिय राजनीति से दूर रहा।

उन्होंने भारत और ब्रिटेन में शिक्षा प्राप्त की। आगे चलकर उन्होंने विमान को अपना पेशा बनाया और इंडियन एयरलाइंस में पायलट के रूप में काम किया। उनका जीवन अपेक्षाकृत निजी और गैर-राजनीतिक था।

लेकिन भारतीय राजनीति की परिस्थितियों ने धीरे-धीरे उन्हें सार्वजनिक जीवन की ओर खींच लिया। 1980 में उनके छोटे भाई संजय गांधी की विमान दुर्घटना में मृत्यु के बाद कांग्रेस नेतृत्व के सामने एक नया राजनीतिक प्रश्न खड़ा हुआ। परिवार और पार्टी के आग्रह पर राजीव गांधी ने राजनीति में प्रवेश किया। 1981 में वे अमेठी से लोकसभा के लिए निर्वाचित हुए।

यहीं से उनके राजनीतिक जीवन की औपचारिक शुरुआत हुई।

अचानक मिली प्रधानमंत्री पद की जिम्मेदारी

31 अक्टूबर 1984 को प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या के बाद देश अत्यंत तनावपूर्ण स्थिति से गुजरा। उसी दिन राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री पद की शपथ ली।

उस समय उनकी उम्र केवल 40 वर्ष थी। वे भारत के सबसे कम उम्र के प्रधानमंत्रियों में शामिल हुए।

इसके बाद दिसंबर 1984 में लोकसभा चुनाव हुए। कांग्रेस को अभूतपूर्व बहुमत मिला और राजीव गांधी के नेतृत्व में सरकार बनी।

यह उनके सामने एक असाधारण अवसर भी था और बड़ी चुनौती भी। देश उनसे एक ओर राजनीतिक स्थिरता की अपेक्षा कर रहा था, तो दूसरी ओर बदलती दुनिया के अनुरूप भारत को आगे ले जाने की उम्मीद भी थी।

कंप्यूटर और तकनीक: बदलते भारत की शुरुआत

राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व की सबसे अधिक चर्चा जिन विषयों के संदर्भ में होती है, उनमें कंप्यूटर और दूरसंचार का विस्तार प्रमुख है।

1980 के दशक में भारत में कंप्यूटर को लेकर आशंकाएं भी थीं। यह सवाल उठता था कि कंप्यूटरीकरण से रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसके बावजूद सरकार ने सूचना तकनीक और आधुनिक संचार प्रणाली को विकास का महत्वपूर्ण माध्यम मानते हुए आगे बढ़ाया।

तकनीकी क्षेत्र में सैम पित्रोदा जैसे विशेषज्ञों की भूमिका उल्लेखनीय रही। दूरसंचार के विस्तार और तकनीकी ढांचे के आधुनिकीकरण की दिशा में संस्थागत प्रयास तेज हुए।

आज भारत जिस विशाल डिजिटल और आईटी अर्थव्यवस्था के लिए जाना जाता है, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझते समय 1980 के दशक में शुरू हुए इन प्रयासों का उल्लेख महत्वपूर्ण है।

शिक्षा नीति और नई पीढ़ी

राजीव गांधी सरकार ने शिक्षा को भी प्राथमिकता दी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 उनके कार्यकाल की प्रमुख पहलों में रही।

नीति में शिक्षा के विस्तार, समान अवसर, महिलाओं की शिक्षा, वंचित वर्गों तक शिक्षा की पहुंच और शैक्षिक गुणवत्ता जैसे विषयों पर जोर दिया गया।

बाद के वर्षों में शिक्षा व्यवस्था में अनेक बदलाव हुए, लेकिन 1986 की नीति भारतीय शिक्षा नीति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव बनी।

युवा भारत और लोकतंत्र

राजीव गांधी की राजनीति में युवाओं को विशेष महत्व दिया गया।

उनके कार्यकाल में मतदान की न्यूनतम आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष की गई। संविधान के 61वें संशोधन अधिनियम, 1988 के बाद यह परिवर्तन लागू हुआ।

इस बदलाव ने करोड़ों युवाओं को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सीधे भाग लेने का अवसर दिया और भारतीय चुनावी व्यवस्था में युवा मतदाताओं की भूमिका को महत्वपूर्ण बनाया।

यह फैसला उस दौर की बदलती सामाजिक वास्तविकता को भी दर्शाता था, जब भारत की बड़ी युवा आबादी राजनीति और सार्वजनिक जीवन में अपनी भागीदारी चाहती थी।

पंचायती राज को मजबूत करने की कोशिश

राजीव गांधी का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक विचार था कि लोकतंत्र केवल संसद और विधानसभा तक सीमित नहीं रहना चाहिए।

वे स्थानीय स्तर पर सत्ता के विकेंद्रीकरण के

समर्थक थे। पंचायतों और नगर निकायों को अधिक अधिकार देने के लिए उनकी सरकार ने संविधान संशोधन के प्रयास किए।

हालांकि उनके समय में संबंधित विधेयक संसद में पारित नहीं हो सके, लेकिन इस दिशा में शुरू हुई प्रक्रिया आगे चलकर महत्वपूर्ण बनी। 73वें और 74वें संविधान संशोधनों के माध्यम से 1992-93 में पंचायती राज संस्थाओं और नगर निकायों को संवैधानिक दर्जा मिला।

इस दृष्टि से राजीव गांधी के दौर की विकेंद्रीकरण संबंधी पहल भारतीय स्थानीय लोकतंत्र के विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी मानी जाती है।

विदेश नीति की जटिल चुनौतियां

राजीव गांधी का कार्यकाल केवल घरेलू सुधारों तक सीमित नहीं था। भारत को पड़ोसी देशों और वैश्विक राजनीति के स्तर पर भी अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

1987 में भारत और श्रीलंका के बीच समझौते के बाद भारतीय शांति सेना यानी IPKF को श्रीलंका भेजा गया। इसका उद्देश्य श्रीलंका में संघर्षरत पक्षों के बीच शांति प्रक्रिया को समर्थन देना था।

लेकिन परिस्थितियां जटिल होती गईं और भारतीय सेना को संघर्ष का सामना करना पड़ा। इस फैसले पर भारत में भी व्यापक राजनीतिक बहस हुई।

यह प्रकरण राजीव गांधी की विदेश नीति के सबसे विवादास्पद अध्यायों में शामिल रहा।

चीन की ओर एक महत्वपूर्ण कदम

राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व में भारत-चीन संबंधों में भी एक महत्वपूर्ण पहल हुई।

1988 में राजीव गांधी ने चीन की यात्रा की। यह यात्रा लंबे समय से तनावपूर्ण रहे द्विपक्षीय संबंधों में उच्चस्तरीय संवाद की पुनः शुरुआत के रूप में महत्वपूर्ण थी।

इस यात्रा के बाद दोनों देशों के बीच सीमा विवाद सहित विभिन्न मुद्दों पर बातचीत का सिलसिला आगे बढ़ा।

बोफोर्स विवाद और राजनीतिक संकट

राजीव गांधी के शासनकाल का सबसे चर्चित राजनीतिक विवाद बोफोर्स सौदे से जुड़ा रहा।1986 में भारत और स्वीडन की कंपनी बोफोर्स के बीच तोपों की खरीद का समझौता हुआ। 1987 में स्वीडिश रेडियो की रिपोर्टों के बाद सौदे में कथित कमीशन और दलाली के आरोप सामने आए।

विपक्ष ने इसे बड़ा राजनीतिक मुद्दा बनाया। राजीव गांधी सरकार ने आरोपों से इनकार किया, लेकिन विवाद लगातार बढ़ता गया।

इस प्रकरण ने सरकार की राजनीतिक विश्वसनीयता को प्रभावित किया और 1989 के आम चुनाव के राजनीतिक वातावरण में यह प्रमुख मुद्दों में शामिल रहा। बोफोर्स प्रकरण आज भी भारतीय राजनीति में भ्रष्टाचार, रक्षा सौदों और राजनीतिक जवाबदेही पर होने वाली बहस का एक महत्वपूर्ण संदर्भ है।

शाह बानो से अयोध्या तक

राजीव गांधी के कार्यकाल में कई ऐसे मुद्दे सामने आए जिनका प्रभाव आने वाले दशकों की भारतीय राजनीति पर पड़ा। शाह बानो प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय के 1985 के फैसले के बाद सरकार ने 1986 में मुस्लिम महिला (तलाक पर अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम पारित किया। इस फैसले की अलग-अलग राजनीतिक और सामाजिक व्याख्याएं हुईं।

इसी दौर में अयोध्या से जुड़े घटनाक्रम भी राष्ट्रीय राजनीति में तेजी से उभरने लगे। 1986 में विवादित स्थल के ताले खोले जाने की न्यायिक प्रक्रिया के बाद यह मुद्दा राष्ट्रीय राजनीतिक विमर्श का प्रमुख हिस्सा बनता गया। इन घटनाओं ने भारतीय राजनीति में धर्म, कानून, सामाजिक अधिकार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व से जुड़े प्रश्नों को नई तीव्रता दी।

1989 का चुनाव और सत्ता से बाहर होना

1989 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस बहुमत हासिल नहीं कर सकी। इसके बाद राजीव गांधी प्रधानमंत्री पद से बाहर हो गए। उन्होंने विपक्ष में रहते हुए कांग्रेस का नेतृत्व जारी रखा और राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे।उनका राजनीतिक जीवन अब एक नए चरण में प्रवेश कर चुका था। वे सत्ता में नहीं थे, लेकिन राष्ट्रीय राजनीति में उनका प्रभाव बना हुआ था।

श्रीपेरंबदूर की वह रात

1991 में देश फिर आम चुनाव की ओर बढ़ रहा था। राजीव गांधी कांग्रेस के चुनाव अभियान में सक्रिय थे। 21 मई 1991 को तमिलनाडु के श्रीपेरंबदूर में एक चुनावी सभा के दौरान उनकी हत्या कर दी गई।

उनकी हत्या ने पूरे देश को झकझोर दिया। बाद की जांच में इस हत्या को लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम (LTTE) से जोड़ा गया। राजीव गांधी की मृत्यु के साथ भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण अध्याय अचानक समाप्त हो गया।

राजीव गांधी: प्रमुख पड़ाव

वर्ष	प्रमुख घटना
1944	मुंबई में जन्म
1980	संजय गांधी की मृत्यु के बाद सक्रिय राजनीति की ओर
1981	अमेठी से लोकसभा सदस्य निर्वाचित
1984	प्रधानमंत्री पद संभाला
1985	सरकार ने आधुनिकीकरण और तकनीकी विकास पर जोर बढ़ाया
1986	राष्ट्रीय शिक्षा नीति
1987	भारत-श्रीलंका समझौता और IPKF
1988	चीन की यात्रा
1988-89	मतदान आयु घटाने का संवैधानिक परिवर्तन
1989	लोकसभा चुनाव के बाद प्रधानमंत्री पद से बाहर
1991	श्रीपेरंबदूर में हत्या

विरासत: बहस के बीच एक ऐतिहासिक भूमिका

राजीव गांधी की विरासत को एक ही दृष्टिकोण में समेटना कठिन है।

उनके समर्थक उन्हें भारत के तकनीकी आधुनिकीकरण, दूरसंचार विस्तार, शिक्षा सुधार और युवाओं की लोकतांत्रिक भागीदारी के प्रयासों से जोड़ते हैं। दूसरी ओर, उनके आलोचक बोफोर्स विवाद, श्रीलंका नीति और उनके कार्यकाल के अन्य राजनीतिक फैसलों को प्रमुखता देते हैं।

इतिहास का मूल्यांकन समय के साथ बदलता रहता है। राजीव गांधी के मामले में भी उनकी उपलब्धियों और विवादों—दोनों को साथ रखकर देखने की आवश्यकता है।

आज जब भारत दुनिया की प्रमुख डिजिटल अर्थव्यवस्थाओं में अपनी जगह बनाने की दिशा में आगे बढ़ रहा है, तब 1980 के दशक में कंप्यूटर, दूरसंचार और तकनीकी आधुनिकीकरण को लेकर शुरू हुई बहस को पीछे मुड़कर देखना विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है।

राजीव गांधी का राजनीतिक जीवन बहुत लंबा नहीं था, लेकिन उनके दौर में लिए गए अनेक फैसलों के प्रभाव भारत



खाड़ी में अमेरिका की ढाल छलनी: ईरान ने दिखा दी नई जंग की हकीकत

सलीम खान

खाड़ी क्षेत्र में जो हुआ है, वह केवल एक सैन्य घटना नहीं—बल्कि अमेरिका की दशकों पुरानी सुरक्षा धारणा पर सीधा प्रहार है। ईरान के मिसाइल और ड्रोन हमलों ने यह साबित कर दिया है कि तकनीक और रणनीति के नए दौर में 'अभेद्य रक्षा कवच' अब एक मिथक भर रह गया है।

आठ देशों में फैले कम से कम 16 अमेरिकी सैन्य ठिकानों पर हमले—यह संख्या ही अपने आप में बहुत कुछ कह देती है। कुवैत का कैम्प ब्यूहरिंग हो या कतर का अल-उदीद एयरबेस—वे सभी केंद्र, जिन्हें अमेरिका अपनी क्षेत्रीय शक्ति का आधार मानता था, अब हमलों की जद में आ चुके हैं।

सबसे चिंताजनक पहलू यह नहीं कि हमले हुए—बल्कि यह है कि वे कितनी सटीकता और सुनियोजित ढंग से किए गए। रडार, निगरानी विमान, संचार तंत्र—यानी किसी भी आधुनिक युद्ध की रीढ़—सीधे निशाने पर थे। यह महज़ हमला नहीं था, बल्कि अमेरिकी सैन्य ढांचे को 'अंधा और बहरा ' करने की कोशिश थी।

अमेरिका भले ही आधिकारिक तौर पर नुकसान को कम करके आंकने की कोशिश करे, लेकिन अग्रिम ठिकानों से सैनिकों की वापसी और संसाधनों का पुनर्वितरण सच्चाई बयान कर रहा है। यह स्थिति नियंत्रण में होने का नहीं, बल्कि दबाव में होने का संकेत है।

इस पूरे घटनाक्रम ने एक कठोर सत्य उजागर किया है—खाड़ी में अमेरिका की सैन्य मौजूदगी अब सुरक्षा की गारंटी नहीं रही। बल्कि, वह खुद एक आसान और स्थायी निशाना बनती जा रही है।

ईरान की बढ़ी हुई सटीकता केवल संयोग नहीं है। बेहतर उपग्रह क्षमता और उन्नत लक्ष्य-भेदन तकनीक ने उसे उस स्तर पर पहुंचा दिया है, जहां वह दूर बैठे भी निर्णायक वार कर सकता है। यह युद्ध का नया चेहरा है—जहाँ दूरी अब सुरक्षा नहीं देती।

इस संघर्ष का सबसे खतरनाक आयाम हॉर्मुज़ जलडमरूमध्य के आसपास बढ़ता तनाव है। यदि यह क्षेत्र अस्थिर होता है, तो झटका केवल अमेरिका या ईरान तक सीमित नहीं रहेगा—पूरी वैश्विक अर्थव्यवस्था इसकी चपेट में आ सकती है।

असल सवाल अब यह है कि क्या अमेरिका इस नई वास्तविकता को स्वीकार करेगा, या पुरानी रणनीतियों के सहारे ही आगे बढ़ता रहेगा? क्योंकि जो तस्वीर उभर रही है, वह साफ है—खाड़ी में शक्ति संतुलन बदल रहा है, और इस बार चुनौती सीधे और खुलकर सामने है।

ईरान ने यह संदेश दे दिया है कि अब युद्ध केवल ताकत का नहीं, बल्कि सटीकता, तकनीक और धैर्य का खेल है। और इस खेल में अमेरिका पहली बार रक्षात्मक मुद्रा में दिखाई दे रहा है।

नेतन्याहू और पत्रकारिता का मृत्युलेख

अमिताभ श्रीवास्तव

इजरायल के प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू की गिरफ्तारी की तुर्किये की हालिया मांग ने भारतीय नेतृत्व को असमंजस में डाल दिया है।

जैसा कि सर्वविदित है, तुर्किये ने इजरायली प्रधानमंत्री नेतन्याहू के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय गिरफ्तारी वारंट जारी करने की मांग की है। उन पर मई में गाजा के पीड़ितों के लिए राहत सामग्री और सहायता लेकर जा रहे फ्लोटिला बेड़े में सवार कार्यकर्ताओं पर इजरायली हमले के संबंध में 'नरसंहार' का आरोप लगाया गया है।

तुर्किये के न्याय मंत्री अकिन गुरलेक का दावा है कि नेतन्याहू और एक अन्य संदिग्ध के खिलाफ 14 जुलाई को गिरफ्तारी वारंट जारी किए गए थे। इजरायल द्वारा राहत बेड़े को रोके जाने के मामले में 35 लोगों के खिलाफ चल रही कानूनी कार्रवाई के अंतर्गत नरसंहार, मानवता के विरुद्ध अपराध और यातना देने जैसे आरोप शामिल हैं।

गुरलेक ने कहा, "बेंजामिन नेतन्याहू और अन्य के खिलाफ जारी गिरफ्तारी वारंट के अनुरूप हमारे न्याय मंत्रालय ने गृह मंत्रालय से अनुरोध किया है कि उनके विरुद्ध इंटरपोल के रेड नोटिस जारी किए जाएं, ताकि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उनकी तलाश की जा सके।"

नाटो का सदस्य तुर्किये गाजा में इजरायल की सैन्य कार्रवाई का सबसे मुखर आलोचक रहा है। वह इसे नरसंहार की कार्रवाई मानता है। इससे पहले भी तुर्किये ने गाजा पर हमलों के संबंध में नेतन्याहू के खिलाफ घरेलू गिरफ्तारी वारंट जारी किए थे।

तुर्किये बार-बार इजरायल के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय कार्रवाई की मांग करता रहा है। अंकारा का आरोप है कि इजरायल मानवाधिकारों और अंतरराष्ट्रीय कानून का उल्लंघन कर रहा है। हालांकि, इजरायल इन आरोपों से इनकार करता है।

मई में इजरायली सेना ने गाजा की ओर जा रहे ग्लोबल सुमुद फ्लोटिला के कम से कम दो जहाजों पर गोलीबारी की थी। इजरायल की कार्रवाई का विरोध करने वाला तुर्किये अकेला देश नहीं है।

फ्रांस, इटली और ऑस्ट्रेलिया ने भी इन कथित उल्लंघनों के खिलाफ न्यायिक कार्यवाही शुरू की है। कार्यकर्ताओं को यातनाएं दिए जाने के दृश्य वीडियो में सामने आए हैं।

तुर्किये के बयान में कहा गया, "हम गाजा में किए गए अपराधों पर पर्दा नहीं डालने देंगे और न ही उनके लिए जिम्मेदार लोगों को दंडमुक्ति का संरक्षण मिलने देंगे।"

हमेशा की तरह भारत सरकार ने ऐसे मामलों में अपनी जिम्मेदारी से पूरी तरह पल्ला झाड़ लिया है। ऐसा लगता है कि हमारा विदेश मंत्रालय यह तय ही नहीं कर पा रहा है कि वह भारतीय जनता पार्टी के पसंदीदा देश इजरायल के साथ खड़ा हो या अपने नए सहयोगी तुर्किये का समर्थन करे।

यह स्थिति इसलिए भी दिलचस्प है कि तुर्किये ने ऑपरेशन सिंदूर के दौरान खुले तौर पर पाकिस्तान का समर्थन किया था। भारत ने यह सैन्य अभियान कश्मीर में पाकिस्तान से आए आतंकवादियों द्वारा

निर्दोष पर्यटकों की हत्या के बाद शुरू किया था।

लेकिन इसके लिए अकेले सरकार को ही दोष क्यों दिया जाए?

मुझे आज भी याद है कि उस संकट के दौरान मीडिया ने भी नैतिकता की दुहाई देते हुए कितनी संदिग्ध भूमिका निभाई थी।

दुनिया में प्रेस की स्वतंत्रता का ध्वजवाहक माने जाने वाले अखबार न्यूयॉर्क टाइम्स ने छह घंटे तक चली संपादकीय बैठक के बाद गाजा के एक अस्पताल पर इजरायली हमले में मारे गए निर्दोष बच्चों की तस्वीर प्रकाशित करने से इनकार कर दिया था। वह तस्वीर युद्ध की भयावह वास्तविकता को सामने लाती थी।

उस समय, वर्ष 2023 में, मैंने इस घटना पर एक कविता लिखी थी। आज मैं उसे फिर से पाठकों के साथ साझा करना चाहता हूँ।

पत्रकारिता का मृत्युलेख

(यहाँ पत्रकारिता दफन है)

इन नन्हे फरिश्तों पर बम बरसाए गए
जब वे थे सबसे सुरक्षित ठिकाने पर—
एक अस्पताल में।
वह दृश्य विचलित कर देने वाला था।
अस्पताल में किसी ने
गाजा के इन बच्चों के शवों को
सफेद चादरों से ढक दिया था।
इस उम्मीद में कि
शायद उनके माता-पिता
या कोई रिश्तेदार आएगा,
उन्हें अंतिम संस्कार के लिए ले जाएगा,
और शायद एकांत में
उनकी मौत पर आँसू बहाएगा।
लेकिन मीडिया को
यह बात पसंद नहीं आई।
भला आती भी कैसे?
उसे तो चाहिए था
सर्वश्रेष्ठ तस्वीर का पुरस्कार!
इसलिए उन्होंने
सफेद चादरों के नीचे छिपे
उन मासूम चेहरों को उघाड़ दिया।
दृश्य ने उन्हें स्तब्ध कर दिया।
बच्चे ऐसे लग रहे थे
मानो गहरी, शांत नींद में हों।
शायद सपने भी देख रहे हों—
उनके चेहरों की मुस्कान
तो यही कह रही थी।
लेकिन तभी नजर पड़ी
खून पर,
और खोपड़ी के उस हिस्से पर
जो गायब था।
अखबारों के संपादकों ने
वह तस्वीर छापने से इनकार कर दिया।
क्योंकि उसमें नहीं झलक रहा था
भय,
आघात,
और अंतिम क्षणों में
साँस लेने के लिए किया गया संघर्ष।
इसलिए अब हम प्रतीक्षा करेंगे
किसी और अवसर की,
किसी और बमबारी की।
या इससे भी बेहतर—
तलवार से किए गए कत्लेआम की,

या बिल्कुल नजदीक से
चलाई गई गोलियों की।
आइए, उम्मीद करें
कि अगली बार
कुछ और बेहतर मिलेगा!

इस पूरे घटनाक्रम में एक और वर्ग पूरी तरह अनुपस्थित दिखाई दिया। वह था गैर-सरकारी संगठनों, यानी एनजीओ का वर्ग, जिनकी संख्या भारत में लाखों में है।

गाजा हो या दुनिया का कोई दूसरा हिस्सा, अस्पतालों और स्कूलों पर बमबारी में बच्चों की मौत ऐसी घटना है, जिसके विरोध में बाल अधिकारों के लिए काम करने वाले सभी गैर-सरकारी संगठनों को एकजुट होना चाहिए था।

उन्हें ऐसी हत्याओं की निंदा करनी चाहिए थी। मोमबत्ती जुलूस निकालने चाहिए थे और मानवाधिकारों के उल्लंघन के लिए जिम्मेदार देशों के दूतावासों के सामने विरोध प्रदर्शन आयोजित करने चाहिए थे।

लेकिन गैर-सरकारी संगठन सत्ता में बैठी सरकार से मिलने वाले अनुदान और आर्थिक सहायता पर इतने निर्भर हो चुके हैं कि वे उसके खिलाफ आवाज उठाने का साहस ही नहीं कर पाते।

जब सरकार स्वयं बच्चों और युवाओं के मानवाधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध खड़ी नहीं होती, चाहे वह भारत में हो या गाजा में, तब ये संगठन भी चुप्पी साध लेते हैं।

यही चुप्पी सबसे अधिक चिंताजनक है।

(लेखक अमिताभ श्रीवास्तव का पत्रकार और लेखक के रूप में योगदान पत्रकारिता की उस परंपरा से जुड़ता है, जिसमें तथ्य, मनोरंजन और जनहित को लेखन के केंद्र में रखा जाता है।)

<><><><><><><>

तथ्य-पट्टी
भारत छोड़ो आंदोलन

प्रस्ताव
8 अगस्त 1942

स्थान
बंबई (वर्तमान मुंबई)
ग्वालिया टैंक मैदान

प्रमुख आह्वान
"करो या मरो"

9 अगस्त 1942
प्रमुख कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी

प्रमुख महिला हस्तियां
अरूणा आसफ अली, उषा मेहता, सुचेता कृपलानी

प्रमुख भूमिगत नेता
जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन

ऐतिहासिक महत्व
स्वतंत्रता की मांग को निर्णायक जनआंदोलन का स्वर मिला।

उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की जयंती पर आभासी साहित्यिक आयोजन

सी.के. श्रीवास्तव

उपन्यास सम्राट एवं महान कथाकार मुंशी प्रेमचंद की जयंती के अवसर पर अंतरराष्ट्रीय साहित्यिक संस्था 'मंज़िल ग्रुप ऑफ साहित्यिक मंच (मगसम)' द्वारा एक भव्य आभासी साहित्यिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रतिष्ठित साहित्यकार मनीषा सहाय 'सुमन' ने की। मुख्य अतिथि के रूप में प्रेमचंद के पौत्र डॉ. दुर्गा प्रसाद (लमही) उपस्थित रहे। कार्यक्रम के विशिष्ट अतिथि मगसम के राष्ट्रीय संयोजक एवं वरिष्ठ साहित्यकार रमेशचंद्र द्विवेदी (हल्द्वानी, नैनीताल) थे। संस्था के मुख्य कार्यपालक अधिकारी सुधीर सिंह 'सुधाकर' ने कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की, जबकि वरिष्ठ कवयित्री निर्मला कर्ण ने प्रभावी मंच संचालन किया। कार्यक्रम का शुभारंभ वरिष्ठ कवयित्री रमा बहेड़ द्वारा सरस्वती वंदना से हुआ।

प्रेमचंद की साहित्यिक विरासत को स्मरण और संरक्षित करने के उद्देश्य से आयोजित इस कार्यक्रम में उनकी दस प्रमुख कहानियों का वाचन पूर्वी एवं उत्तर भारत के साहित्यकारों ने किया। प्रत्येक कहानी का संक्षिप्त परिचय और प्रभावशाली प्रस्तुति श्रोताओं को भावविभोर कर गई।

कहानी वाचन करने वाले साहित्यकार इस प्रकार रहे—

- 'कफ़न' — सरला विजय सिंह (चेन्नई)
- 'पूस की रात' — रजनी गुप्ता 'पूनम' (लखनऊ)
- 'ईदगाह' — रश्मि 'लहर' (लखनऊ)
- 'बूढ़ी काकी' — अपर्णा गुप्ता (लखनऊ)
- 'ठाकुर का कुआँ' — आशा जाखड़ (इंदौर)
- 'आत्माराम' — ईरा जौहरी (लखनऊ)
- 'शतरंज के खिलाड़ी' — साधना मिश्रा (लखनऊ)
- 'बड़े घर की बेटी' — सुनीता जौहरी (वाराणसी)

कार्यक्रम के मध्य आयोजित प्रश्नोत्तर सत्र विशेष आकर्षण का केंद्र रहा। मुख्य अतिथि डॉ. दुर्गा प्रसाद से उपस्थित साहित्यकारों ने प्रेमचंद के जीवन और साहित्य से जुड़े अनेक रोचक एवं कम चर्चित प्रश्न पूछे। उन्होंने सभी प्रश्नों के तथ्यपूर्ण और स्पष्ट उत्तर दिए।

उन्होंने बताया कि प्रेमचंद का पहला विवाह मात्र तेरह वर्ष की आयु में हुआ था, जो वैचारिक मतभेदों के कारण सफल नहीं हो सका। बाद में उनका विवाह बाल-विधवा शिवरानी देवी से हुआ, जिन्होंने जीवन के अंतिम समय तक उनका साथ निभाया।

'मुंशी' शब्द प्रेमचंद के नाम के साथ कैसे जुड़ा—इस प्रश्न के उत्तर में डॉ. प्रसाद ने बताया कि उस समय

जागरण समाचारपत्र से जुड़े कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के कारण यह संबोधन प्रचलित हुआ। हालांकि प्रेमचंद ने स्वयं अपने साहित्यिक लेखन में कभी 'मुंशी' शब्द का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने यह भी बताया कि 'मुंशी' शब्द उस समय विशेष रूप से कायस्थ समाज में सम्मानसूचक संबोधन के रूप में प्रचलित था।

इसके अतिरिक्त प्रेमचंद का प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ाव, आर्थिक कठिनाइयों के कारण 'हंस' पत्रिका का प्रकाशन बंद होना तथा मुंबई फिल्म जगत से उनका मोहभंग जैसे अनेक विषयों पर भी उन्होंने विस्तार से जानकारी दी।

विशिष्ट अतिथि रमेशचंद्र द्विवेदी ने "पत्रकार के रूप में प्रेमचंद का कृतित्व और व्यक्तित्व" विषय पर सारगर्भित व्याख्यान दिया।

संस्था के मुख्य कार्यपालक अधिकारी सुधीर सिंह 'सुधाकर' ने बताया कि मगसम के देश-विदेश में लगभग 65 हजार सक्रिय सदस्य हैं। उन्होंने 18 से 20 सितंबर तक अजमेर में आयोजित होने वाले साहित्यिक कार्यक्रम की जानकारी भी दी। उन्होंने बताया कि संस्था ने हिंदी साहित्य के प्रचार-प्रसार और साहित्यकारों को एक मंच पर लाने के उद्देश्य से एक साहित्यिक रथयात्रा निकाली, जो अब तक लगभग सात लाख किलोमीटर की यात्रा कर चुकी है। संस्था का "साहित्य चलो गाँव की ओर" अभियान ग्रामीण क्षेत्रों के साहित्यकारों को मुख्यधारा से जोड़ने का महत्वपूर्ण प्रयास है।

कार्यक्रम की अध्यक्ष मनीषा सहाय 'सुमन' ने सभी साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत कहानियों की समीक्षात्मक एवं सारगर्भित टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद के साहित्य की समकालीन प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला।

समापन से पूर्व साधना मिश्रा ने "सर्वे भवन्तु सुखिनः" का सामूहिक मंगलाचरण कराया। इसके पश्चात सभी प्रतिभागियों ने समवेत स्वर में राष्ट्रगान 'जन-गण-मन' प्रस्तुत किया। लगभग ढाई घंटे तक चले इस गरिमामय कार्यक्रम का समापन मंच संचालिका निर्मला कर्ण द्वारा सभी प्रतिभागियों एवं अतिथियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापन के साथ हुआ।

(अधिवक्ता और लेखक के रूप में सी.के. श्रीवास्तव का व्यक्तित्व कानून और समाज के बीच संवाद स्थापित करने वाली उस लेखकीय परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें तर्क, संवैधानिक दृष्टि और जनसरोकार को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।)



स्वतंत्रता का अर्थ: तिरंगे से आगे एक जिम्मेदार नागरिकता

हर वर्ष 15 अगस्त आते ही देश तिरंगे के रंगों में रंग जाता है। स्कूलों में बच्चे राष्ट्रगान गाते हैं, सरकारी भवन रोशनी से जगमगाते हैं और देशभर में स्वतंत्रता दिवस के कार्यक्रम आयोजित होते हैं। लेकिन स्वतंत्रता दिवस केवल उत्सव का अवसर नहीं है। यह वह दिन है जब हमें स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि 1947 में मिली राजनीतिक स्वतंत्रता को हमने सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक स्वतंत्रता में कितना बदल पाया है।

भारत की स्वतंत्रता लाखों लोगों के संघर्ष, त्याग और बलिदान का परिणाम थी। स्वतंत्रता आंदोलन ने केवल विदेशी शासन से मुक्ति की मांग नहीं की थी, बल्कि एक ऐसे भारत का सपना भी देखा था जिसमें नागरिकों को समान अधिकार, सम्मान और अवसर प्राप्त हों। संविधान ने इसी सपने को लोकतंत्र, न्याय, स्वतंत्रता और समानता के मूल्यों के माध्यम से दिशा दी।

आज भारत दुनिया की एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में अपनी पहचान बना रहा है। विज्ञान, तकनीक, अंतरिक्ष, डिजिटल अर्थव्यवस्था और बुनियादी ढांचे के क्षेत्र में उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई देते हैं। करोड़ों लोगों के जीवन में सुविधाएं बढ़ी हैं। लेकिन विकास की इस तस्वीर के साथ कुछ गंभीर सवाल भी हमारे सामने खड़े हैं।

क्या हर बच्चे को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिल रही है? क्या युवाओं को उनकी योग्यता के अनुरूप रोजगार मिल रहा है? क्या किसान, मजदूर और छोटे उद्यमी आर्थिक असुरक्षा से मुक्त हैं? क्या महिलाओं को वास्तविक समानता और सुरक्षित वातावरण प्राप्त है? और सबसे महत्वपूर्ण क्या हमारे लोकतांत्रिक संस्थानों में नागरिकों का विश्वास मजबूत हो रहा है?

स्वतंत्रता का अर्थ केवल यह नहीं कि हम अपनी सरकार चुन सकते हैं। स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ तब पूरा होता है जब नागरिक बिना भय के अपनी बात कह सकें, असहमति का सम्मान हो, कानून सबके लिए समान हो और समाज में कमजोर व्यक्ति भी अपने अधिकारों के लिए आवाज उठा सके। लोकतंत्र केवल चुनाव का नाम नहीं, बल्कि निरंतर जवाबदेही और नागरिक भागीदारी की व्यवस्था है।

आज की युवा पीढ़ी के सामने अवसर भी हैं और चुनौतियां भी। सोशल मीडिया ने अभिव्यक्ति को आसान बनाया है, लेकिन इसके साथ गलत सूचना, नफरत और विभाजनकारी भाषा का खतरा भी बढ़ा है। ऐसे समय में युवाओं को केवल दर्शक नहीं, बल्कि जिम्मेदार नागरिक और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रहरी बनने की आवश्यकता है।

स्वतंत्रता दिवस हमें अतीत पर गर्व करने के साथ भविष्य के प्रति जिम्मेदार बनने की प्रेरणा देता है। तिरंगा केवल हमारी राष्ट्रीय पहचान का प्रतीक नहीं, बल्कि उन आदर्शों की याद भी है जिनके लिए असंख्य लोगों ने अपना जीवन समर्पित किया।

इसलिए इस स्वतंत्रता दिवस पर सबसे बड़ा संकल्प यही होना चाहिए—हम स्वतंत्रता को केवल मनाएंगे नहीं, बल्कि उसे अपने व्यवहार, विचार और नागरिक जिम्मेदारियों में जीवित रखेंगे। क्योंकि राष्ट्र की वास्तविक स्वतंत्रता तभी सार्थक है, जब उसका प्रत्येक नागरिक सम्मान, न्याय और अवसर के साथ जी सके।

जगदीश गौतम

इथेनॉल: मुझे नहीं मालूम, इसलिए चुप हू

प्रदीप माथुर

मुझे कच्चे तेल के गुणों के बारे में कुछ नहीं मालूम। इथेनॉल किस बला का नाम है, इसकी रासायनिक कुंडली भी मैंने नहीं पढ़ी है। ऑटोमोबाइल इंजीनियरिंग से मेरा उतना ही वास्ता है जितना किसी मोटर मैकेनिक का पत्रकारिता के सिद्धांतों से। इसलिए पेट्रोल में कितना इथेनॉल मिलाने से इंजन खुश होता है और कितना मिलाने से उसकी तबीयत खराब हो जाती है, इस पर ज्ञान बघारने की स्थिति में मैं बिल्कुल नहीं हूं।

लेकिन एक मुश्किल है।

इस सरकार के फैसलों पर मेरा भरोसा नहीं है। बिल्कुल नहीं है। पिछले वर्षों के अनुभव ने मन में यह शक बैठा दिया है कि सरकार जब भी बड़े उत्साह से किसी नई आर्थिक या औद्योगिक नीति का गुणगान करती है तो मेरा पहला सवाल होता है— इसमें किस बड़े पूंजीपति मित्र का फायदा है?

हो सकता है इस बार मेरा शक गलत हो। भगवान करे गलत हो। लेकिन दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है और यहां तो दूध कई बार उबलकर चूल्हे पर फैल चुका है।

इसलिए इथेनॉल पर चल रही बहस को मैं दिलचस्पी से देख रहा हूं। एक पक्ष कहता है कि यह देश के लिए वरदान है। विदेशी तेल पर निर्भरता घटेगी, किसानों को लाभ होगा और पर्यावरण की सेहत सुधरेगी। दूसरा पक्ष डराता है कि ज्यादा इथेनॉल आपकी गाड़ी के इंजन की ऐसी-तैसी कर देगा। किसकी बात सही है? मुझे नहीं मालूम।

हां, मानव स्वभाव के बारे में एक बात जरूर जानता हूं। नई तकनीक आते ही हम डर जाते हैं। पहले शक करते हैं, फिर विरोध करते हैं और अंत में चुपचाप उसे अपना लेते हैं।

पत्रकार के रूप में मैंने अपने जीवन की पहली समाचार रिपोर्ट वर्ष 1966 में कानपुर में की थी। एलआईसी के कर्मचारी सड़कों पर थे। नारे लग रहे थे। विरोध 'ऑटोमेशन' का था। कंप्यूटर आने वाले थे और कर्मचारियों को डर था कि मशीनें उनकी नौकरियां खा जाएंगी।

आज बिना कंप्यूटर के एलआईसी चलाने की कल्पना कीजिए। शायद कल्पना करते-करते ही आपकी पॉलिसी मैच्योर हो जाए। बिजली के बल्ब की कहानी भी कुछ ऐसी ही है। यूरोप में जब बल्ब आया तो कुछ लोगों ने उसे शैतान का आविष्कार बताया। उनका कहना था कि भगवान ने रात अंधेरे के लिए बनाई है। आदमी रात में रोशनी करेगा तो प्रकृति का नियम टूट जाएगा और सभ्यता नष्ट हो जाएगी।

मैं नहीं जानता।

और शायद आज के शोर-शराबे वाले दौर में 'मैं नहीं जानता' कहना भी एक जोखिम है। हर आदमी विशेषज्ञ है। व्हाट्सऐप यूनिवर्सिटी ने डिग्रियां बांट रखी हैं और सोशल मीडिया पर हर प्रश्न का उत्तर दो मिनट में उपलब्ध है।

मेरे पास फिलहाल कोई उत्तर नहीं है।

इसलिए उंगलियां क्रॉस किए बैठा हूं। इथेनॉल के समर्थन में भी नहीं, विरोध में भी नहीं।

सच सामने आने दीजिए। फिर बात करते हैं।

RNI NO.: UPHIN/2016/68336

हमारी वेबसाइट देखें
www.mediamap.co.in

जुड़िए एक ऐसे मंच से जो रखता है जनता की बात

भारत की अर्थव्यवस्था कहां जा रही है?





गंभीर विश्लेषण, तथ्यों के साथ

शिक्षा और समाज नई चुनौतियां





समावेशी विकास ही सही दिशा

लोकतंत्र, संविधान और नागरिक अधिकार





जन सरोकारों पर बेबाक चर्चा

मानवता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व





एक बेहतर, शांतिपूर्ण कल के लिए

हमारा YouTube चैनल देखें
Media Map Network

SUBSCRIBE

सोचें
देखें
समझें
साझा करें



जनसंवाद 7 : खानपान पर रोक क्यों? Ep-124

3 views • 4 hours ago



जन संवाद 6 : नेता हो या गुणाह, वोथी से क्यों डरना? Ep-123

4 views • 4 hours ago



विविध 15 : जन को भी छह महीने की सजा : Ep-122

27 views • 21 hours ago



विविध-14 : कंपनी की तानाशाही - आपके प्रोडक्ट को ट्रायल बना रहे हैं! Ep-121

6 views • 23 hours ago

आर्थिक सहयोग की अपील

उदार लोकतंत्र और गैर-सांप्रदायिक विचार के दर्शन से जुड़ा, मीडिया मैप समाचार नेटवर्क एक गैर-व्यावसायिक संगठन है। हम आप जैसे गंभीर और समझदार पाठकों के सहयोग से स्वतंत्र, निष्पक्ष और जनोन्मुख पत्रकारिता को आगे बढ़ाना चाहते हैं।

आपका सहयोग हमारे इस प्रयास को निरंतर और सशक्त बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

- स्वतंत्र पत्रकारिता
- जन सरोकार
- समावेशी समाज
- रचनात्मक विचार
- बेहतर कल के लिए

"स्वतंत्र मीडिया, सशक्त समाज"

आइए, सकारात्मक बदलाव की इस पहल से जुड़ें।

SBI
MEDIA MAP
SCAN & PAY

UPI ID: 9810385757@sbi

- State Bank of India
- Account No. 43812481024
- IFSC : SBIN0005226

आपका छोटा सहयोग बड़ा बदलाव ला सकता है

Your Home in the

Himalayan Paradise

SCHOLARS DESTINATION

GUEST HOUSE

MUKTESHWAR | UTTARAKHAND

A Peaceful Retreat for
Scholars, Researchers, Thinkers & Travellers

- Breathtaking Himalayan Views
- Free Wi-Fi
- Comfortable Accommodation
- Quiet Spaces for Study & Work
- Home-cooked Delicious Food
- Easy Access & Safe Parking


Comfortable Bedrooms


Spacious Balcony

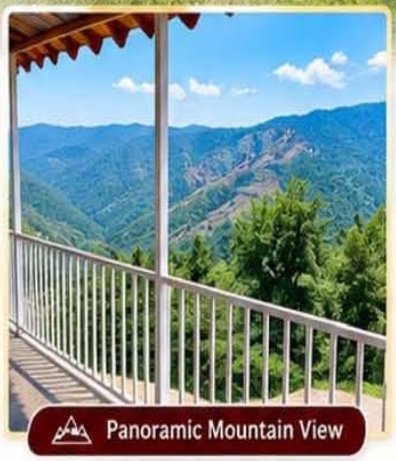
Panoramic Mountain View


Clean & Hygienic Bathrooms

BOOK YOUR STAY TODAY
9910322682

230 GEHNA, MUKTESHWAR
UTTARAKHAND - 263031

Peace | Nature | Inspiration

Come for the View... Stay for the Peace!